॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

॥ श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ॥

❀ श्रीमद्‌युगलानन्य शरणाय नमः ❀

श्रीवैष्णव-दर्शन

लेखक—

आचार्य स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराज।

प्रकाशक एवं सम्पादक—

पं० श्रीमैथिलीशरण शास्त्री

वेदान्ताचार्य

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

श्रीमते रामानन्दाय नमः

❀ श्रीमद्युगलानन्यशरणाय नमः ❀

श्रीवैष्णव दर्शन

लेखक—

आचार्य स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराज

प्रकाशक एवं सम्पादक

पं० श्रीमैथिलीशरण शास्त्री

वेदान्ताचार्य

संशोधित एवं परिवर्धित द्वितीय संस्करण—२००० } सन् १९६८ { न्यौछावर— ७५ न.पै.

प्रथम संस्करण की भूमिका

श्रीलक्ष्मणकिला स्थान के वर्तमान अध्यक्ष आचार्य श्रीसीता रामशरणजी के द्वारा निर्मित एवं प्रकाशित श्रीवैष्णव दर्शन ग्रन्थ सभी श्रीवैष्णव दर्शनों का सार संग्रह है। इसमें विशिष्टाद्वैत-दर्शन द्वैत-दर्शन द्वैताद्वैत-दर्शन शुद्धाद्वैत-दर्शन और अचिन्त्यभेदाभेद-दर्शन इन वैष्णव दर्शनों की सभी प्रधान मान्यताओं पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। जिज्ञासु महानुभाव इस एक लघुग्रन्थ से ही यह विदित कर सकते हैं कि इन वैष्णवाचार्यों की किन २ अर्थों में मतैक्य है तथा किन २ अर्थों में मतभेद हैं। सभी श्रीवैष्णवाचार्य इस प्रधान अर्थ में सहमत हैं कि श्री भगवान् ही परतत्त्व हैं उनका आश्रय लेना ही परम हित हैं, तथा उनकी प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। साथ ही जगत् सत्य है, वेद परम प्रमाण है। भगवच्छरणागति एवं भगवद्भक्ति से ही जीव का उद्धार होगा। सभी श्रीवैष्णवाचार्य अद्वैत सम्मत जगन्मिथ्यात्ववाद का विरोधी है। "तत्त्वमसि" इत्यादि वचनों का अर्थ अपने २ सिद्धान्त के अनुसार करते हुए अद्वैत वर्णित अर्थ का निराकरण करते हैं। यह ग्रन्थ परमत निराकरण पूर्वक वैष्णव दर्शनों का प्रतिपादक होने से वैष्णवों में तत्त्वहित और पुरुषार्थ के विषय में निश्चयात्मक ज्ञान का उत्पादक है। अत एव सभी जिज्ञासु श्रीवैष्णव महानुभावों को अत्यन्त उपादेय एवं कल्याणकारी है।—इति

श्रीवैष्णवों का विधेय

ता. ७।११।६१

के० वि० नीलमेघाचार्य

रामानुजदर्शन का प्राध्यापक

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय; वाराणसी

द्वितीय संस्करण पर

दो शब्द

अनन्तकल्याणगुणगणनिलय अचिन्त्यसौंदर्य माधुर्यसुधासिन्धु श्रीसीतारामजी की अनहैतुकी कृपा से 'श्रीवैष्णव दर्शन' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है। इसके पूर्व 'अखिल भारतीय दार्शनिक सम्मेलन' एवं 'श्रीरामचरित मानस नवाह्न पारायण महायज्ञ' का प्रथम अधिवेशन श्रीलक्ष्मणकिला में १९६१ में हुआ था, उस अवसर पर श्रीवैष्णव दर्शन का प्रकाशन हुआ था। प्रसन्नता का विषय है कि १९६८ में पटना में उसी महायज्ञ का चतुर्थ अधिवेशन होने जा रहा है इस अवसर पर इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण होना अनिवार्य हो गया।

इस ग्रंथ में विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत एवं श्री चैतन्यमहाप्रभु का अचिन्त्यभेदाभेद दर्शन का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। सभी दर्शनों के द्वारा श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन एवं अपने मत का प्रतिपादन किया गया है। सबके अन्त में सभी दर्शनों का समन्वय भी है।

इस संस्करण में श्रीरामानुजाचार्य एवं श्री वेदान्त देशिक द्वारा प्रमाणप्रमेय की व्याख्यानों का समुचित उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न किया गया है। मध्य में वेदार्थ संग्रह के अनुपपत्तिवाद पर विशेष ध्यान देकर उसे समझाने का प्रयत्न किया गया है। विषय तो बहुत हैं किन्तु पाठक को थोड़े में सन्तोष हो जाय एवं समझ लें यह ध्यान रक्खा गया है। इस ग्रन्थ से पाठक समुचित लाभ उठा सकेंगे ऐसी आशा है।

महाशिवरात्रि के पवित्र पर्व पर
२६।२।६८ ई०

सम्पादक

॥ श्रीमते रामानन्दाय नमः ॥

❀ श्रीमद्युगलानन्यशरणाय नमः ❀

श्रीवैष्णव-दर्शन

वाञ्छा कल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च ।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः ॥

वैष्णव दर्शनों में विशिष्टाद्वैत दर्शन का मुख्य स्थान है। दो विशिष्टों के अद्वैत का नाम विशिष्टाद्वैत है, सम्प्रदाय के आचार्यों ने इस प्रकार अर्थ किया है :—

विशिष्टाद्वैत शब्दार्थ—

विशिष्टश्च विशिष्टश्च विशिष्टे, तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम् ।

दो विशिष्टों के अद्वैत को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। अर्थात् सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म तथा स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के अद्वैत (अभेद) को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। सृष्टि के पूर्व सूक्ष्म चित् (आत्मा) अचित् (प्रकृति) तथा ईश्वर कारण है एवंसृष्टि के पश्चात् स्थूल चित् अचित् तथा ईश्वर कार्य हैं, उन दोनों अवस्थाओं में एक ही ब्रह्म रहता है अतः दोनों का अभेद सुतरां सिद्ध है।

कारणावस्थापन्न ब्रह्म के साथ कार्यावस्थापन्न ब्रह्म की एकता का नाम विशिष्टाद्वैत है—

तदेव नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापन्नप्रकृति पुरुषशरीरं ब्रह्म कारणावस्थम् । जगतस्तदापत्तिरेव प्रलयः । नामरूपविभागविभक्त स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यावस्थम् । ब्रह्मणस्तथाविधस्थूल-भावो जगतः सृष्टिरित्युच्यते—

(वेदार्थ संग्रह पृ० १५४)

॥ श्रीमते रामानन्दाय नमः ॥

❁ श्रीमद्युगलानन्यशरणाय नमः ❁

श्रीवैष्णव-दर्शन

वाञ्छा कल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

वैष्णव दर्शनों में विशिष्टाद्वैत दर्शन का मुख्य स्थान है। दो विशिष्टों के अद्वैत का नाम विशिष्टाद्वैत है, सम्प्रदाय के आचार्यों ने इस प्रकार अर्थ किया है :—

विशिष्टाद्वैत शब्दार्थ—

विशिष्टश्च विशिष्टश्च विशिष्टे, तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्।

दो विशिष्टों के अद्वैत को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। अर्थात् सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म तथा स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के अद्वैत (अभेद) को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। सृष्टि के पूर्व सूक्ष्म चित् (आत्मा) अचित् (प्रकृति) तथा ईश्वर कारण हैं एवंसृष्टि के पश्चात् स्थूल चित् अचित् तथा ईश्वर कार्य हैं, उन दोनों अवस्थाओं में एक ही ब्रह्म रहता है अतः दोनों का अभेद सुतरां सिद्ध है।

कारणावस्थापन्न ब्रह्म के साथ कार्यावस्थापन्न ब्रह्म की एकता का नाम विशिष्टाद्वैत है—

तदेव नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापन्नप्रकृति पुरुषशरीरं ब्रह्म कारणावस्थम्। जगतस्तदापत्तिरेव प्रलयः। नामरूपविभागविभक्त स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यावस्थम्। ब्रह्मणस्तथाविधस्थूल-भावो जगतः सृष्टिरित्युच्यते— (वेदार्थ संग्रह पृ० १५४)

कारण एवं कार्य दोनों अवस्थाओं में ईश्वर चेतन एवं अचेतन ये दोनों विशेषणों से युक्त रहता है। सृष्टि के पूर्व प्रलयकाल में चेतन तथा अचेतन नाम रूप विभागों को छोड़कर सूक्ष्म दशा में पहुँच जाते हैं।

सृष्टिकाल में चेतन अचेतन-ये दोनों नाम रूप विभाग के योग्य बनकर स्थूलदशा को धारण कर लेते हैं। प्रलयकाल में चेतन अचेतन-ये दोनों नाम रूप विभाग के अयोग्य हो जाते हैं, दोनों अवस्थाओं में अन्तरात्मा के रूप में ईश्वर निर्विकार रहता है। चेतन-अचेतन के सम्बन्ध से ही ईश्वर इन दो अवस्थाओं को ग्रहण करता है। ईश्वर दोनों अवस्थाओं में चेतन-अचेतन (प्रकृति-पुरुष) का नियामक, प्रेरक रहता है। चेतन-अचेतन ये दोनों ईश्वर के विशेषण हैं। ईश्वर विशेष्य है, कार्यावस्था में चेतन अचेतन में परिणाम होते हैं, ईश्वर में नहीं।

'नामरूपविभागानर्ह' अवस्था को कारणावस्था तथा 'नामरूप विभागार्ह' अवस्था को कार्यावस्था कहते हैं। दोनों अवस्थाओं में ईश्वर अन्तरात्मा के रूप में निर्विकार रूप से विद्यमान रहता है। कारणावस्थापन्न ब्रह्म के साथ कार्यावस्थापन्न ब्रह्म का अद्वैत को विशिष्टाद्वैत कहते हैं।

आचार्य ने अपने भाष्य में स्थान-स्थान पर इसका विशद विवेचन किया है— (द्रष्टव्य, श्रीभाष्य २। १। १५)

अलौकिक अद्वैत—

विशिष्टाद्वैत में भी 'अद्वैत' शब्द आया है। यह अद्वैत स्वामी श्रीशंकराचार्य के अद्वैत से विलक्षण है। उपनिषद् वाक्यों के आधार पर इस अद्वैत का अर्थ अत्यन्त मनोरम किया गया है।

वेदान्तदेशिक स्वामी ने न्यायसिद्धाञ्जन में तत्व का निरूपण करते हुए एक ही परतत्त्व स्वीकार किया है :—

अशेष चिदचित्प्रकारं ब्रह्मैकमेव तत्त्वम्। तत्र प्रकारप्रकारिणोः प्रकाराणां च मिथोऽत्यन्तभेदेऽपि विशिष्टैक्यादिविलक्षणैकत्वव्यपदेशस्तदितरनिषेधश्च। अन्यथा समस्त प्रमाण संक्षोभप्रसङ्गात्। इदमेव चेत्थंभूतं सामान्यतः प्रमा विषयतया विशेषतः प्रकर्षेण मेयतया च प्रमेयमुक्तम्। (न्या० सि० जड़द्रव्यपरिच्छेद)

समस्त चेतन-अचेतन रूपी विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म एक ही तत्त्व है। अद्वैतवाद में भी एक तत्त्ववाद है तथा विशिष्टाद्वैत में भी एक तत्त्ववाद है। किन्तु इन दोनों तत्त्ववादों में जो अन्तर है वह नितान्त विचारणीय है। अद्वैतवाद सम्मत एकतत्त्ववाद में ब्रह्म निर्विशेष है, निर्गुण है, निराकार है। विशिष्टाद्वैत सम्मत एकतत्त्ववाद में ब्रह्म सविशेष है, सगुण है, साकार है।

सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्

(छा० ६-२-१)

इस श्रुति की व्याख्या करते हुये अद्वैतवादी आचार्य कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व एक ही सद्रूपी अद्वितीय ब्रह्म तत्व था। अद्वैतमतानुसार यहां 'सत्' से विजातीय भेद शून्य, 'एक' से सजातीय भेद शून्य तथा 'अद्वितीय' से स्वगत भेद शून्य 'सत्' ब्रह्म कहा गया है।

विशिष्टाद्वैतवादी आचार्य कहते हैं कि इस श्रुति से निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती है, इसमें तो अनेकों विशेषण है। श्रुति का अर्थ इस प्रकार है :—

हे सौम्य! इदं-अग्रे सत् एव आसीत्, एकं-एव-अद्वितीयम् उद्दालक श्वेतकेतु से कहते हैं कि वत्स! सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत् ही तत्व था। इस श्रुति में 'सत्' से उपादान कारण तथा 'अद्वितीय' से निमित्त कारण कहा गया है। विविध विलक्षणताओं

से युक्त यह जगत् कार्य है, इसका कोई न कोई कारण अवश्य होगा। कारण वही हो सकता है जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् होगा।

परिणामवाद की सिद्धि के लिये उपादानकारण तथा सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि सामर्थ्य की सिद्धि के लिये 'निमित्तकारण' अपेक्षित है। लोक में कुम्भकार घट बनाता है। घटके निर्माण में भी उपादानकारण निमित्त कारण अपेक्षित होते हैं। घट के निर्माण में मृत्तिका उपादानकारण है, तथा कुलाल (कुम्भकार) निमित्त कारण है। किन्तु जगत्रूपी कार्य के लिये एक ही परमात्मा उपादान तथा निमित्त दोनों कारण है। यह भेद भी सहेतुक है। अल्पज्ञ, सामर्थ्यहीन, होने के कारण लौकिक कुम्हार अकेले उपादान और निमित्त दोनों नहीं बन सकता। कुम्भकार केवल निमित्त कारण बनकर संकल्प करता है, तथा मृत्तिका उपादान कारण बनकर घट का निर्माण करती है। मृत्तिका से घट के रूप में परिणाम हुआ। इसी को परिणामवाद कहते है। अस्तु।

अभिन्न निमित्तोपादान कारण जगत्-उत्पत्ति-पालन-प्रलयलील सत्-ब्रह्म जगत् का कारण है, अतएव जगत्कारण ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सगुण साकार है।

'सदेव सौम्य' इस श्रुति से ब्रह्म अनेकों विशेषणों से विशिष्ट है, इसका विशद विवेचन कारणवाद विमर्श प्रसंग में प्रस्तुत किया जायेगा।

विशिष्टाद्वैत सम्मत एकत्ववाद में ब्रह्म ही एक तत्व है किन्तु वह ब्रह्म चेतन-अचेतन विशिष्ट है।

'अशेष चिदचित्प्रकारं ब्रह्म एकमेव तत्त्वम्'

इस प्रसंग में आचार्यने गम्भीर सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

यहाँ एक तत्व में तीन तत्व निहित हैं। चित्—अचित् तथा

ब्रह्म, ये तीनों मिलकर भी एक ही तत्व हैं। चेतन और अचेतन ये दोनों ब्रह्म के प्रकार है, विशेषण हैं, शरीर हैं। ब्रह्म तो विशेष्य है—चेतन—अचेतन की अन्तरात्मा है।

'तत्र प्रकार प्रकारिणोः प्रकाराणां च मिथोऽत्यन्तभेदेऽपि...।'

चेतन अचेतन रूपी प्रकार से प्रकारी (विशेष्य) ब्रह्म का भेद सिद्ध है ही, परस्पर प्रकारों (विशेषणों) में भी अत्यन्त भेद सुस्पष्ट है। अर्थात् चेतन (जीव) अचेतन (माया) के साथ ब्रह्म का अत्यन्त भेद तो है ही, चित्-अचित् के परस्पर में भी भेद है।

माया तथा जीव ये दोनों आपस में भी एक दूसरे से भिन्न हैं।

चेतन (जीव) कभी अचेतन नहीं हो सकता है तथा अचेतन (माया) कभी चेतन नहीं हो सकती है। माया का स्वरूप में ही परिणाम होता है। चेतन (जीव) के स्वरूप सदा परिणाम रहित है। 'माया' जड़ है, 'जीव' चेतन है। इस प्रकार माया जीव में परस्पर अनेकों भेद हैं। इन दोनों से सर्वथा विलक्षण तथा अत्यन्तभिन्न परमात्मा है।

यहाँ यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि जब प्रकृति-पुरुष एवं परमात्मा परस्पर में अत्यन्त भिन्न हैं, तब 'एकमेव तत्वम्' ब्रह्म ही एक तत्व है यह कथन कैसे सम्भव हो सकता है? इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि इन तीनों (तत्वत्रय) में ब्रह्मतत्व प्रधान है। अतः एक ही तत्व कहा जाता है। द्वितीय हेतु है कि विशिष्ट वस्तु की जहाँ भी प्रतीति होती है वहाँ विशेषण विशेष्य एवं तदुभय सम्बन्ध से ही विशिष्ट की प्रतीति होती है। यहाँ चित्-अचित् विशेषण विशिष्ट ब्रह्म में ब्रह्म तो शरीरी (आत्मा) है, तथा चेतन-अचेतन ब्रह्म के शरीर हैं। अतएव चेतन-अचेतन दोनों अपृथक् सिद्ध विशेषणों के साथ ब्रह्म का शरीर-शरीरी भाव सम्बन्ध है।

जिस प्रकार हम अपने शरीर के साथ आत्मा को एक ही तत्व समझते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म भी स्वशरीर भूत जड़-चेतन को अपना स्वरूप ही समझता है।

शरीर वाचक शब्द का पर्यवसान शरीरी तक होता है, यह शास्त्र सिद्धान्त है। अतएव शरीरात्मभाव सम्बन्ध की दृष्टि से चेतन-अचेतन विशिष्ट ब्रह्मतत्व एक ही है।

ब्रह्मतत्व से पृथक् कोई वस्तु नहीं है, सभी चेतन तथा अचेतन जब ब्रह्मात्मक हैं। ब्रह्म से पृथक् जब किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है तब अब्रह्मात्मक वस्तु का निषेध भी सर्वथा उचित है। जड़ प्रकृति तथा चेतन आत्मा की भी अन्तरात्मा परब्रह्म परमात्मा है, अतः परमात्मा से पृथक् कारण एवं कार्य, सूक्ष्म एवं स्थूल दोनों जड़ एवं चेतन नाम की कोई वस्तु नहीं है।

इस प्रकार के भेद-अभेद दोनों प्रकार की श्रुतियों का निर्वाह हो जाता है। 'एकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति द्वारा विशिष्ट वस्तु की एकता कही गई है चेतन-अचेतन से विशिष्ट ब्रह्म एक है प्रधान है। जैसे हमारे शरीर में भी आत्मा की ही प्रधानता है, आत्मा के सुख के लिये ही शरीर इन्द्रियाँ रात दिन प्रयत्नशील रहती हैं, उसी प्रकार चेतन-अचेतन दोनों अपनी अन्तरात्मारूपी परमात्मा की सेवा के लिये हैं। इनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। अभेद श्रुतियों का तात्पर्य सर्वविशेषण विशिष्ट परब्रह्म की प्रधानता एवं एकता में है तथा 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'द्वितीयाद्धि भयं भवति' इत्यादि भेद निषेधक श्रुतियाँ ब्रह्म से पृथक्सत्तायुक्त वस्तु का निषेध करती है। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' जड़-चेतन सब ब्रह्मात्मक है। ब्रह्म से पृथक् वस्तु के निषेध में भेद निषेधक श्रुतियों का ब्रह्मरूपी विशिष्ट वस्तु की प्रधानता व्यक्त करना अभेद श्रुतियों का तात्पर्य है।

इस प्रकार विशिष्टाद्वैत सम्मत इस एकत्ववाद से भिन्न, अद्वैतवाद सम्मत एकत्ववाद को स्वीकार करने में अनेकों श्रुति-वचनों प्रमाणों में विरोध उत्पन्न हो जायेंगे। पुनश्च—

'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वाजुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति'

(श्वे० १·६)

'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' (श्वे० १-९)

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३-१)

यस्य पृथिवी शरीरम्, यस्य आत्मा शरीरम्।' (वृ० ५-७ ३)

'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशतेदेव एकः'

(श्वे० १-१)

इत्यादि श्रुति वाक्यों का विशिष्टाद्वैत सम्मत एकत्वाद में ही सम्यक् समन्वय सम्भव है।

इस प्रकार प्रलयकाल में भी सूक्ष्मरूप से विद्यमान चित्-अचित् (जीव-म ा) की सत्ता भी सुरक्षित रह जाती, साथ ही सर्व प्रेरक, सर्वशेषी परमात्मा की एकता भी सुरक्षित रह जाती है। यह अलौकिक अद्वैत का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमान से असम्भव है। इसका ज्ञान तो एक मात्र वेद-शास्त्रों से ही सम्भव है। जो वस्तु प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता तथा अनुमान से नहीं जाना जाता, उसी को वेद बतलाता है। वेद की यह महिमा है, यही विशेषता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

(वाक्यपदी)

अतिसन्निकृष्ट-अतिदूर आदि अनेकों दोषों से दूषित प्रत्यक्ष

प्रमाण से जब लौकिक वस्तु की सिद्धि असम्भव है, तब अलौकिक वस्तु परतत्व की सिद्धि प्रत्यक्ष से कैसे सम्भव हो सकता है।

अतिदूर के कारण उच्च पर्वत शिखरों से भूमिगत गो-वृषभ आदि का ठीक-ठीक निश्चय असम्भव है। अतिदूरस्थ सूर्य के परिमाण का निश्चय असम्भव है तथा दूर देशस्थ विविध सत्य वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वधा असम्भव है।

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुविज्ञानाय प्रेष्ठा।
(कठ० १।२९)

यमराज नचिकेतासे कहते हैं कि हे प्रिय! ब्रह्मज्ञान तर्कसे नहीं होता, इसके लिए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाना चाहिये। गुरू कृपा लब्ध ज्ञान से ही ब्रह्मज्ञान सम्भव है। अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाणाधीन है।

जब किसी ने पाकशाला में धूम का कभी दर्शन किया तथा अग्नि धूम साहचर्य का ज्ञान हुआ। जहाँ २ धूम रहता है वहाँ आग रहती है यह साहचर्य ज्ञान के पश्चात् जब वह दृष्टधूम पुरुष कहीं पर्वत पर धूम देख लेता है तब कहने लगता है—

पर्वतो वह्निमान् धूमात्।

धूम हेतु के कारण पर्वत में आग का अनुमान करने लग जाता है। इन्द्रियातीत परमात्मा के सम्बन्ध में किसी को इस प्रकार का साहचर्य ज्ञान का सर्वथा अभाव है, अतः परमात्मा के सम्बन्ध में अनुमान भी पूर्ण प्रमाण नहीं है।

वेदव्यासजी ब्रह्मसूत्र में तर्क से ब्रह्म की सिद्धि असम्भव है ऐसा स्वीकार करते हैं।

तर्काप्रतिष्ठानात् (ब्र० २-१-११)

गोस्वामी श्री तुलसीदासजी कहते हैं—

मन समेत जेहि जान न बानी।

तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥

अतः एक मात्र शास्त्र से ही ब्रह्म की सिद्धि सम्भव है। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि समस्त मानवोचित दोषों से वेद अछूता है, अतः तत्व की सिद्धि में एक मात्र परम प्रमाण है।

समस्त आस्तिक दार्शनिक एक मत से वेद को अपौरुषेय स्वीकार करते हैं। परमात्मा के स्वाभाविक श्वाँस से वेदों का प्रादुर्भाव माना गया है—

अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदः यजुर्वेदः, सामवेदः, (वृ० २-४-१०)

अन्तः प्रविष्टश्शास्ताजनानां सर्वात्मा'।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥

इत्यादि श्रुति स्मृति प्रमाण द्वारा समस्त चेतनाचेतन का प्रेरक, धारक, अन्तर्यामी परमात्मा सुतरां सिद्ध है।

श्रुति के अनुकूल तर्क की प्रतिष्ठा है किन्तु परमात्मा की सिद्धि में केवल तर्क सर्वथा अप्रमाण है। वेद के अनुकूल तर्क के द्वारा धर्म रहस्य का ज्ञान करना उचित है।

आर्ष धर्मोपदेशञ्च वेद शास्त्राविरोधिना

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः। (मनु० १२-१ से ६)

अतएव वेद-शास्त्रों द्वारा ही विशिष्टाद्वैत सम्मत एकत्ववाद का सम्यक् ज्ञान सम्भव है। विशेषण विशिष्ट एक ही ब्रह्म परतत्व है, यह विशिष्टाद्वैत सम्मत एकतत्ववाद वैदिकवाद है। कोटि-कोटि माता-पिताओं से भी वत्सलतरा श्रुति भगवती की आज्ञा जीव मात्र के लिये ग्राह्य है।

वैसे विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द ये तीन प्रमाण स्वीकार किये गये हैं।

उपमान, सादृश्य, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों को इन तीन प्रमाणों के अभ्यन्तर ही समाविष्ट (अन्तर्भाव) मानते हैं।

श्री निवासाचार्य ने यतीन्द्रमत दीपिका में प्रथम तथा तृतीय अवतार में अत्यन्त अकाट्य युक्तियों से प्रमाणों के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में प्रामाण्यविमर्श प्रकरण' में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जायगा। अभी तो (वे० दे० रचित) न्याय सिद्धाञ्जन के आधार पर प्रमेयों पर ही विचार चल रहा है।

चेतन-अचेतन विशिष्ट ब्रह्म ही एकतत्व है यह पूर्व में निरूपण किया गया।

अब आगे ब्रह्म को प्रमेय के रूप में निरूपण करते हैं:—

इदमेव चेत्थंभूतं सामान्यतः प्रमाविषयतया
विशेषतः प्रकर्षेण मेयतया च प्रमेयमुक्तम् ॥

(न्या० सि० जड़द्रव्य परिच्छेद)

इस प्रकार चेतन-अचेत विशेषणों से विशिष्ट-ब्रह्म ही प्रमेय है। यह ब्रह्मतत्व सामान्य तथा विशेष रूप से जानने योग्य है।

'प्रमेय' शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। प्रथम यथार्थ ज्ञान का विषय 'प्रमेय' कहा जाता है। यह प्रमेय अलौकिक नहीं है। यथार्थ ज्ञान का विषय तो साधारणतः सभी पदार्थ हैं, अतएव यह प्रमेय का लक्षण सभी साधारण पदार्थों की दृष्टि से किया गया है। वास्तविक प्रमेय तो सभी पदार्थों से विलक्षण, अवश्य ज्ञातव्य ब्रह्म ही है, अतः विशेष रूप से सम्यक् ज्ञातव्य (अच्छी तरह से जानने योग्य) होने के कारण ब्रह्म प्रमेय कहा जाता है। ग्रन्थकार ने ही न्यायपरिशुद्धि में प्रमेय के

दो लक्षण किये हैं :—

प्रमा विषयः प्रमेयम्—तथा

प्रकर्षेण मेयं प्रमेयम् ॥

प्रमा का जो विषय है वह प्रमेय है 'यथार्थ ज्ञानं प्रमा' यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं। प्रमा-यथार्थ ज्ञान का जो विषय है वह प्रमेय है। ऐसा प्रमेय तो सर्वसाधारण वस्तु भी सम्भव है किन्तु 'प्रकर्षेण मेयं प्रमेयम्' विशेष रूप से जो जानने योग्य वस्तु है वही वास्तविक प्रमेय है। भली-भाँति जानने योग्य एक मात्र परमात्मा ही हैं।

अत्यन्त वात्सल्य के साथ मानवमात्र को वेद उपदेश देता है कि "परमात्मा का साक्षात्कार करो, परमात्मा के सम्बन्ध में गुरु मुख से प्रचुर श्रवण करो, गुरु मुख से वेदवाक्य के श्रवण से संशय दूर हो जाते हैं तथा ब्रह्म के सम्बन्ध में सच्ची जानकारी प्राप्त होती है। श्रवण के पश्चात्, युक्तियों से मनन तथा अन्त में निदिध्यासन—ध्यान के द्वारा परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है:—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

(बृह० २।४।५)

इस श्रुति की व्याख्या में दार्शनिकों का यह श्लोक प्रसिद्ध है:—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।

मत्वा च सततं ध्येयः एते दर्शनहेतवः।

इस प्रकार ब्रह्म प्रमेय है तथा सधारण एवं विशेष दोनों प्रकारों से जानने योग्य है।

वेदान्तदेशिक स्वामी अधिकरणसारावली में प्रमेय की गणना को असम्भव बतला रहे हैं।

गम्भीरे ब्रह्मभागे गणयितुमखिलं कः प्रवीणः प्रमेयं,
दिङ्मात्रंदर्शयन्नप्यहमिह निपुणैः प्राध्वमध्यक्षणीयः ।
माभून्निश्शेषसिद्धिस्तदपि गुणविदः स्फीतनिस्सीमरत्ने,
मध्येहारं निधेयम्सहति जहति किम्मौक्तिकं लब्धमब्धौ ।

(श्रीवेदान्त देशिक रचित अ० सा० ४)

श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी कहते हैं—अत्यन्त गम्भीर वेद रूपी सागर में समस्त प्रमेयों को कोई भी प्रवीण 'इदमित्थं' की भाँति गणना नहीं कर सकता है, मैंने केवल संकेत मात्र किया है। विवेकीगण इस मार्गदर्शन से लाभ उठावेंगे। यद्यपि इस कार्य में पूर्ण सिद्धि असम्भव है फिर भी समुद्र में अनन्त रत्न हैं, उन सभी रत्नों को कोई नहीं प्राप्त कर सकता है। किन्तु यदि एक भी रत्न प्राप्त हो जाय तो रत्न के पारखी उसको छोड़ नहीं देता' प्रत्युत उसको लेकर सन्तुष्ट हो जाता है तथा वह रत्न हार की शोभा बढ़ाने लगता है। उसी प्रकार अनन्तकल्याणगुणगण सम्पन्न परमात्मा का पूर्ण वर्णन तो असम्भव है। यदि उसका एक गुण भी मिल गया तो वह सर्वथा ग्राह्य है। परमात्मा के अनन्त दिव्य कल्याण गुणगणों में एक गुण का वर्णन भी वाणी की पवित्रता के लिये प्रर्याप्त है।

'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति।'

(तैत्तिरीय० अनु० ९)

तैत्तिरीय उपनिषद् के सप्तम अनुवाक् में ब्रह्म के आनन्द की मीमांसा, प्रारम्भ हुई। ब्रह्म के एक 'आनन्द' गुण पर विचार किया गया। किन्तु अन्त नहीं मिला। ब्रह्मानन्द को अनन्त कहकर श्रुति मौन हो गई। मनुष्यलोक से लेकर प्रजापति लोक तक जो आनन्द है वह सीमित है, गणना के योग्य है। मानव, गन्धर्व,

देव, प्रजापति, आदि लोकों के आनन्दों का सीमित वर्णन किया गया किन्तु जब ब्रह्म के आनन्द की गणना की बात आई तो श्रुति कहती है :—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ॥
(तैत्ति० अनु० ७)

परमात्मा का आनन्द अनन्त-अपार है। जिस प्रकार अन्य लोकों के आनन्दों की सीमा है वैसी सीमा यहां नहीं है। ब्रह्म के आनन्दकी गणना करते समय वाणी समेत मन अशक्त हो जाता है। उस आनन्दसिन्धु के तट सेही टकराकर मन वाणी लौट आती है।

वाणी लौटकर बस इतना ही संकेत करती है कि ब्रह्म का आनन्द गणना के योग्य नहीं किन्तु अनन्त-अपार है। हाँ यदि उस आनन्द सिन्धु के यत्किञ्चित् अंश को भी जान लेता है तो वह कृतार्थ होकर अभय हो जाता है। ब्रह्म स्वकृपाद्वारा प्रदत्त बुद्धियोग से जाना जा सकता है। किन्तु उसके माप-दण्ड, एवं सीमा का निश्चय सर्वथा असम्भव है। ऐसी अवस्था में प्रमेय का ठीक २ निरूपण कितना दुरूह है, यह सर्व विदित है।

प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से केवल लौकिक पदार्थों का ही यत्किञ्चित् सिद्धि सम्भव है। सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, अलौकिक-ब्रह्म वस्तु की सिद्धि तो एक मात्र वेद प्रमाण से ही सम्भव है। पूर्व मीमांसा दर्शन के—

चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः,

इस सूत्र के भाष्य में शबर स्वामी ने सुस्पष्ट लिखा है कि—

'चोदना हि भूतं भवन्तं··अर्थमवगमयितुम्'
(शबर भाष्य)

स्वामी रामानुजाचार्य ने शास्त्रयोनित्वाधिकरण में सुस्पष्ट कहा है कि ब्रह्म एक मात्र वेदों से ही जानने योग्य है:—

अतः प्रमाणान्तरागोचरत्वेन शास्त्रैक विषयत्वात् 'यतो वा इमानि भूतानि' इति वाक्यमुक्तलक्षणं ब्रह्म प्रतिपादयतीति सिद्धम्—
(श्रीभाष्य—१।१।३)

इस प्रकार वेद-शास्त्रों के अनुसार ही ब्रह्म की सिद्धि सम्भव है। वेद-शास्त्रों में सर्वत्र ब्रह्म को चित्-अचित् विशेषणों से युक्त कहा गया है।

अज्ञानी जीव को देहात्मभ्रम तथा स्वतन्त्रात्म भ्रम होता है। देह को आत्मा मानना देहात्मभ्रम है तथा परमात्मा से पृथक् अपनी स्वतंत्रता मानना स्वतंत्रात्म भ्रम है। वेद कहता है देह से आत्मा पृथक् है। देह नश्वर है, आत्मा अविनाशी है। शरीर में वाल्य, यौवन, वृद्धत्व आदि अनेक अवस्थायें होती हैं किन्तु आत्मा सदा एक रस बना रहता है, इस प्रकार देह ही आत्मा है, ऐसा भ्रम शास्त्रों से ही दूर होता है। देहात्मभ्रम दूर होने के बाद स्वतंत्रात्मभ्रम को भी शास्त्रों द्वारा ही दूर किया जाता है।

वस्तुतः आत्मा सदा परतंत्र है। जड़-चेतन वस्तुओं में ऐसी एक भी वस्तु नहीं है, जो परमात्मा से भिन्न हो।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्।'

श्रुति कहती है, सभी वस्तुऐं ब्रह्मात्मक हैं। अतः ब्रह्म से भिन्न आत्मा को स्वतंत्र मानना अज्ञान का ही कार्य है।

वेद-शास्त्रों के द्वारा ही ये दोनों भ्रम निवृत्त होते है। तथा सभी वस्तुयें ब्रह्मात्मक हैं, ऐसा वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार वेद के द्वारा ही भ्रम की उत्पत्ति कही जाती है। जगत् एवं उसकी सृष्टि स्थिति-प्रलय आदि सभी कार्य मिथ्या हैं। सृष्टिकर्ता ईश्वर भी मिथ्या है, स्वर्ग-नरक आदि

सभी वस्तुयें मिथ्या हैं, एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म ही सत्य है और सब मिथ्या है—

'सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या ।'

जगत्कारण ईश्वर प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता है, वह तो वेद से ही सिद्ध होता है। इन भ्रम पूर्ण एवं मिथ्या अर्थों को ज्ञान कराने वाले वेद भ्रम को उत्पन्न करने वाले ही सिद्ध होते हैं, यह महती विचित्रता है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार वेद कोटि-कोटि माता-पिताओं से भी वत्सलतर है, परम हितकारी हैं। अतः वेदों के द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, भ्रमात्मक नहीं।

मनुष्य मात्र के लिये प्राप्य, प्रापक, प्राप्ति के उपाय, प्राप्ति के विरोधी तथा फल-ये पाँच अर्थों (अर्थपञ्चक) का ज्ञान वेद कराता है :—

प्राप्यस्यब्रह्मणोरूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः ।
प्राप्युपायं फलं प्राप्तेस्तथा प्राप्तिविरोधि च ॥
वदन्ति सकलावेदाः सेतिहासपुराणकाः ।
मुनयश्च महात्मानो वेदशास्त्रार्थवेदिनः ॥

(नारद पञ्चरात्र)

'प्रमेय सिद्धिः प्रमाणाद्धि' इस सूत्र के अनुसार प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों से ही सम्भव है।

भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि समस्त मानवोचित दोषों की सम्भावनाओं से सर्वथा मुक्त वेद ही प्रमेय की सिद्धि में परम प्रमाण है, यह विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की सर्वोत्कृष्ट विशेषता है।

नामकरण में मूल सिद्धान्त निहित है अतः प्रस्तुत नाम के रहस्य

को जान लेने से संक्षिप्त सिद्धान्त का ज्ञान भी सम्भव है। वेदान्त के प्रारम्भिक सिद्धान्त से सम्बन्धित ज्ञान का संकेत मतों के नाम करण में है। वेदान्त दर्शन के रचयिता श्रीवेदव्यास ने ब्रह्म सूत्र के प्रारम्भ में चार सूत्रों द्वारा वेदान्त की भूमिका का वर्णन किया है चतुःसूत्री के भाष्यों में भाष्यकारों के समस्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त संकलन पाया जाता है—अधिकतर विद्वानों की यह धारणा है कि ब्रह्मसूत्र के चार सूत्रों से केवल प्रस्तावना कही गई है, वस्तुतः शास्त्रारम्भ तो पाचवाँ सूत्र 'ईक्षनाशितेव्दम्' से है। ईक्षत्यधिकरण में कारण तत्त्व पर विचार है। सांख्य मत के विरुद्ध ईश्वर को जगत् का कारण माना गया है।

इस प्रकार यहाँ से वेदान्त शास्त्र प्रारम्भ होकर 'अनावृत्ति शब्दात्' अन्तिम सूत्र तक समस्त तत्त्वों का भलीभाँति निरूपण करता है। विशिष्टाद्वैत मत में श्रुति-स्मृतियों का जैसा समन्वय है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। भगवद्भक्ति से विशुद्ध अन्तःकरण द्वारा परमतत्त्व का रहस्य जैसा भागवताचार्यों को प्राप्त हुआ वैसा अन्य को नहीं मिला।

यदङ्घ्र्यनुध्यान समाधिधौतया धियानुपश्यन्ति हि तत्त्वमात्मनः।
वदन्ति चैतत्कवयो यथारुचं स मे मुकुन्दो भगवान् प्रसीदताम् ॥

पञ्चस्तवीकार ने कहा है कि आपके पादारविन्द में जिनकी भक्ति नहीं है उनको शास्त्रों से भी बोध नहीं होता है—

न्यायस्मृतिप्रभृतिभिर्भवतानिसृष्टैर्वेदोपबृंहणविधावुचितैरुपायैः।
श्रुत्यर्थमर्थमिव भानुकरैर्विभेजुः त्वद्भक्तिभावितविकल्मषशेमुषीकाः॥
ये तु त्वदङ्घ्रिसरसीरुहभक्तिहीनाः तेषाममीभिरपि नैव यथार्थ बोधः।
पित्तघ्नमञ्जनमनापुषि जातु नेत्रे नैव प्रभाभिरपि शङ्खसितत्वबुद्धिः॥

हे नाथ! वेद के अर्थ के प्रकाशक इतिहास पुराण आदि द्वारा

वेदों का अर्थ आपकी भक्ति से पवित्र बुद्धिवाले भक्तों को उसी प्रकार स्पष्ट दीखने लगते हैं जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में घट आदि सभी पदार्थ प्रत्यक्ष दीखने लग जाते हैं।

जो लोग आपके चरणकमलों की भक्ति से रहित हैं उनको इन शास्त्रों से भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता है क्योंकि पिलिया नेत्ररोग से पीड़ित मनुष्य को स्वच्छ शंख भी पीत प्रतीत होने लगता है।

इस प्रकार श्रुति-स्मृतियों का ठीक-ठीक समन्वय श्रीवैष्णव दर्शन में उपलब्ध होता है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में पदार्थ तीन हैं—चित्, अचित्, तथा ईश्वर। 'चित्' भोक्ता जीव को कहते हैं। 'अचित्' भोग्य जगत् को एवं 'ईश्वर' सर्वान्तर्यामी सर्व प्रेरक को कहते हैं। श्रुति कहती है:—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्। (श्वेता० १।१२।)

भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जड़ वर्ग) और प्रेरक (प्रभु) इन तीनों को जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इन तीन भेदों में बताया हुआ ही ब्रह्म है।

जीव तथा जगत् वस्तुतः नित्य तथा पृथक् पदार्थ है। किन्तु अन्तर्यामी रूप से ईश्वर दोनों के भीतर विराजमान रहता है। इसलिए चित् तथा अचित् ईश्वर के शरीर माने जाते हैं। जिस प्रकार जीवात्मा का शरीर आत्मा के लिए ही है, उसी प्रकार चित् अचित् ये दोनों नियमतः ईश्वर के लिए ही हैं। शरीर को आत्मा धारण करता है, नियमन करता है तथा अपने स्वार्थ साधन के लिये कार्य में प्रवृत्त करता है। ईश्वर भी चित् अचित् को अपनी इच्छानुसार कार्य में प्रवृत्त करता है। ईश्वर निया-

मक तथा विशेष्य है; चित्-अचित् ईश्वर के नियाम्य तथा विशेषण हैं। विशेषण विशेष्य के साथ सर्वदा सम्बद्ध रहता है। अतः विशेषणों से युक्त विशेष्य की एकता युक्तियुक्त है। शरीरभूत चित्-अचित् की सत्ता अंगी ईश्वर से पृथक् सिद्ध नहीं होती। विशिष्टाद्वैत नामकरण का यही अभिप्राय है।

यही ब्रह्म समस्त जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। ईश्वर अपनी इच्छा से जगत् की रचना करता है, यह व्यापार न तो कर्म प्रेरित है और न अन्य प्रेरित ही है। बालक जिस प्रकार अनेक खिलौनों से खेलता है, उसी प्रकार परमकौतुकी भगवान् भी जगत् उत्पन्न कर क्रीड़ा किया करते हैं।

संहार दशा में भी लीला का विराम नहीं होता, क्योंकि संहार भी भगवान् की एक लीला ही है।

सदेव सौम्येदमग्र आसीत् (छां० ६।२।१।)

हे सौम्य! सृष्टि के पहले यह समस्त जड़-चेतन 'सत्' ही था। इस श्रुति में 'सत्' शब्द से अद्वैतवादी सजातीय विजातीय स्वगत भेदशून्य ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु विशिष्टाद्वैतवादी आचार्यों ने नाम रूप विभाग के अयोग्य कारणावस्थास्थित सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म को ही 'सत्' शब्द से स्वीकार किया है। सृष्टि के पूर्व सूक्ष्म रूप से जड़-चेतन दोनों तत्व विद्यमान थे। क्योंकि श्रुति में स्पष्ट है कि—

तद्धीदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते।

(बृ० १।४।७)

(भगवान् कहते हैं), पूर्व में नाम-रूप-विभाग-रहित को नाम रूप विभाग करता हूँ।

उपसंहार वाक्य में भी—

'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि' (छां० ६।३।२)

अर्थात्—जीव शरीर से प्रविष्ट होकर नाम रूप का विभाग करता हूँ, ऐसा कहा गया है।

जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म हैं, तब ब्रह्म का कार्य जगत् विकारयुक्त है, परिणामी है, अतः इस कार्यगत दोष से ब्रह्म कैसे बचता है? इस संशय का समाधान अत्यन्त सुन्दर एवं अकाट्य युक्तियों से विशिष्टाद्वैती आचार्यों ने किया है। इस सिद्धांत में केवल ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है किन्तु चित-अचित् सहित ब्रह्म कारण है। परिणाम ब्रह्म के शरीरभूत अचित्-अंश में होता है; अतः ब्रह्म निर्दोष है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म कारण कार्य दोनों अवस्थाओं में विशुद्ध ज्ञानघन एवं अविद्या सम्बन्धी दोषों से असंस्पृष्ट रहता है। सच्चिदानन्द भगवान् सर्वदा एक रस ज्ञानानन्दैक विग्रह रहते हैं। श्रुति भी स्पष्ट कहती है—एक ही शरीर रूपी वृक्ष में जीव ईश्वर रूपी पक्षी निवास करता है। इन दोनों में एक जीव रूपी पक्षी अज्ञानवश कर्म फलों को स्वाद-पूर्वक भोगता है, किन्तु परमात्मा रूपी पक्षी कर्म फलों को न भोगकर केवल प्रकाश देता रहता है। यथा :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ (मु० ३।१।)

इससे स्पष्ट हुआ कि ईश्वर अचित् के विकारों से सर्वथा रहित है। विष्णुपुराण में महर्षि श्रीपराशरजी ने भगवान् को समस्त सायिक विकारों से रहित एवं निखिल कल्याण गुणगणनिलय बतलाया है।

स सर्वभूत प्रकृतिं विकारान् गुणादिदोषांश्च मुने व्यतीतः।
अतीतसर्वावरणोऽखिलात्मा तेनास्तृतं यद् भुवनान्तराले॥
(वि० पु० ६।५।८३)

हे मुने! वह ईश्वर समस्त प्रकृति के विकारों से रहित है, गुणमय दोषों से अतीत है। मायिक आवरणों से वह अखिलात्मा आवृत नहीं है। वही समस्त भुवनों में व्याप्त है। भगवान् समस्त कल्याण गुणगण निलय हैं—

समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद् धृतभूतसर्गः ।
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः संसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ ॥

(वि० पु० ६।५।८४)

वह ईश्वर समस्त कल्याण गुणों से परिपूर्ण है, उसने अपनी शक्ति-लेश से समग्र भूतसर्ग को धारण किया है, अपनी इच्छा से वह अनेकों अवतार धारण करता है तथा जगत् का कल्याण करता है। अद्वैतवादी आचार्यों के मत में केवल निर्विशेषचिन्मात्र ब्रह्म ही यथार्थ तत्त्व है, इसके अतिरिक्त दृश्यमान समस्त प्रपञ्च मिथ्या है, ब्रह्म सजातीय विजातीय स्वगत भेद से शून्य है। यही निर्विशेष ब्रह्म जब माया से युक्त होकर सगुण या सविशेष रूप को धारण करता है तब उसको ईश्वर कहते हैं, इत्यादि।

किन्तु विशिष्टाद्वैती आचार्यों ने अद्वैतमत के विपरीत इस विषय में समीचीन विचार किया है। विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म सजातीय विजातीय भेदशून्य होने पर भी स्वगत भेदशून्य नहीं है, क्योंकि ईश्वर के सदृश सजातीय विजातीय वस्तुओं की सत्ता नहीं है, अतः ब्रह्म इन दो प्रकार के भेदों से शून्य है, किन्तु चित्-अचित् ईश्वर के शरीर हैं—विशेषण हैं, जिसमें चिदंश-अचिदंश से सर्वथा भिन्न रहता है। अतः ईश्वर स्वगत भेद से शून्य नहीं है।

इस प्रकार ब्रह्म और ईश्वर एक ही है। इसके शरीरभूत जीव तथा जगत ब्रह्म से भिन्न हैं तथा नित्य हैं। अतः विशिष्टाद्वैत में पदार्थ तीन हैं एक नहीं।

अपने प्रिय भक्तों पर विशेष अनुग्रह के लिए तथा जगत

की रक्षा के उद्देश्य से भगवान् पांच प्रकार के पर, व्यूह, विभव अन्तर्यामी, अर्चावतार-रूपों को धारण करते हैं। इन पांचों में तत्वतः कोई भेद नहीं है।

जिस तरह प्रकाश अन्धकार का तथा गरुड़ सर्प का विरोधी है, उसी तरह विकार दोषों के भगवान् विरोधी हैं। अखिल हेय प्रत्यनीक का यही अभिप्राय है। देश-काल-वस्तु-परिच्छेद शून्य होने से भगवान् अनन्त कहलाते हैं, अर्थात् समस्त चेतन अचेतन की अपेक्षा व्यापक एवं विभु होने से इस देश में हैं, इस देश में नहीं हैं, इस प्रकार देश परिच्छेद से भगवान् शून्य हैं। नित्य होने से इस काल में हैं इस काल में नहीं हैं, इस प्रकार काल परिच्छेद से भी भगवान् रहित हैं, तथा सबके अन्तर्यामी होने से एवं सबके शरीर होने से अमुक वस्तु में हैं अमुक वस्तु में नहीं हैं, ऐसे वस्तु परिच्छेद से भी भगवान् रहित हैं। 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा, 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' 'यस्यात्मा शरीरम्' 'यस्य पृथिवी शरीरम्'। इत्यादि श्रुतियाँ उपर्युक्त विवेचन में प्रमाण हैं।

भगवान् के वात्सल्य सौशील्य सौलभ्य आदि गुणों के अधिकारी आश्रित वर्ग हैं। शौर्य पराक्रम आदि के अधिकारी आश्रित विरोधी वर्ग हैं। इसी प्रकार ज्ञान अज्ञों के, शक्ति अशक्तों के, क्षमा अपराधियों के, कृपा दुखियों के, वात्सल्य दोषयुक्तों के, शील नीचों के, आर्जव कुटिलों के, सौहार्द दुष्ट हृदयवालों के, मार्दव विश्लेष भीरुओं के लिये, (अर्थात् मार्दव गुण के कारण भगवान् आश्रितों के विरह सहने में असमर्थ हैं, अतः इस गुण के चिन्तन से भगवद् वियोग दुःख से आश्रित मुक्त हो जाते हैं) एवं सौलभ्यगुण दर्शन की आशा रखने वाले भक्तों के उपयोगी हैं। भगवान् मन-बुद्धि वाणी से अगोचर हैं, सौलभ्य गुण के कारण ही वे सर्व साधारण चेतनों के नयन गोचर होते हैं।

विशिष्टाद्वैत में अवतार का अर्थ है—अपने अजहत् (न त्यागने योग्य) स्वभाव से ही रूपान्तर का परिग्रह करना—

अवतारो नामाजहत्स्वभावस्यैव रूपान्तरपरिग्रहः ।

श्री मद्भागवत ५।१९।५ (वीर राघव)

अवतार का मुख्य प्रयोजन साधु परित्राण है—'परित्राणाय साधूनाम्'—गीता । साधु परित्राण का अर्थ भगवान् के साथ शयन-आसन अटन भोजन करनेवाले अनन्य आश्रित जो कि भगवान् के बिना एक क्षण को एक कल्प के समान मानते हैं, ऐसे आश्रितों को अपने दर्शन-स्पर्श-भाषण से सुखी करने को परित्राण कहते हैं—(टीका वीर राघव श्रीमद्भागवत ५।१९।५) धर्म की स्थापना तथा असुरोंका विनाश तो संकल्प मात्र से भी हो सकता था, अतः केवल भक्तों को प्रेमदान के लिए अवतार होता है। इस विषय में प्रायः सभी वैष्णवाचार्यों का एकमत है । श्रीमद्भागवत में इस श्लोक के ऊपर सभी आचार्यों की विस्तृत व्याख्या है ।

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।
कुतोऽन्यथा स्याद् रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि
व्यसनानीश्वरस्य—(५।१९।५)

भागवत के इस श्लोक के व्याख्यान में आचार्यों के अनेक विचार प्राप्त होते हैं । अद्वैती श्रीधरस्वामीने मर्त्यशिक्षण का अर्थ 'दुःखमय संसार है, यही शिक्षा भगवान् दुःखी होकर देते हैं"—ऐसा कहा है । विशिष्टाद्वैतवादी श्रीवीरराघवाचार्य का भी यही मत है। 'संसारे स्त्रीसङ्गादिकृतं दुःखं दुर्वारमिति मर्त्यानां शिक्षणम्'—श्रीधरस्वामी। संसार दोष ज्ञापनेनशिक्षणम्—वीर राघवाचार्य।

किन्तु अचिन्त्यभेदाभेदवादी श्रीजीवगोस्वामी को उपर्युक्त

शुष्क अर्थ स्वीकार नहीं है। इनका अभिप्राय है कि मर्त्यशिक्षण का अर्थ है मानव को सभी तरह से शिक्षा देना। बहिर्मुखजीवों के लिये भले ही विषय से वैराग्य कराने के लिये स्त्री संग से दुःख आवश्यक है यह शिक्षा देते हों, किन्तु परम भक्तों को तो प्रेम की ही शिक्षा देते हैं, अर्थात् भगवान् श्रीराघवेन्द्र संयोग वियोग-मय निज लीलाओं से लीला माधुर्य का प्रकाशन करते हैं, तथा इस रसमयी लीला द्वारा भक्तिरस रसिकों के चित्त को आर्द्र (सरस) करते हैं—

मर्त्येषु शिक्षणं तत्तदर्थं प्रकाशनं यत्तन्मयमपि
तत्र बहिर्मुखेषु विषयासङ्गदुर्वारताप्रकाशनमानु-
षङ्गिकमुद्देश्यन्तु स्वभक्तिवासनेषु चित्तार्द्रताकर-
विरहसंयोगमय निजलीलाविशेषमाधुर्यप्रकाशनम्।

(श्रीजीवगोस्वामी कृत वैष्णवतोषिणी ५।१९।५।)

श्रीचैतन्यमतानुयायी रसिकशिरोमणि आचार्य श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने सबसे पृथक् अपना भाव व्यक्त किया है। भक्ति रस को उत्कृष्टता से आकृष्ट होकर कभी-कभी ये स्वतन्त्र रूप से विवेचन करते हैं। अपने पूर्ववर्ती आचार्य श्रीजीवगोस्वामी प्रभृति से भी कभी-कभी इनके विचारों में पार्थक्य प्रतीत होता है।

प्रस्तुत श्लोक का भाव इनका सभी से विलक्षण है—इनका कथन है कि मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—एक धर्मयुक्त, दूसरे प्रेमयुक्त। धर्मयुक्त मानवों को धर्म शिक्षा एवं प्रेमयुक्त मानवों को प्रेम की शिक्षा भगवान् देते हैं। धार्मिकों के सामने अपने को परम धार्मिक सिद्ध करते हैं, तथा प्रेमी भक्तों के सामने अपने को प्रेमवश्य सिद्ध करते हैं। धार्मिकों को चाहिये कि वे अपनी सती साध्वी भार्या की उपेक्षा न करे। आश्रित के वियोग में दुखी

होना चाहिये। इसीलिये श्रीरघुनन्दन नें दुःखी होकर धार्मिकों को यह शिक्षा दी। दूसरे पक्ष में प्रेमियों को प्रेम रस की शिक्षा दी गई है। अर्थात् संयोग-वियोग लीला द्वारा भगवान् स्वयं भी आनन्द प्राप्त करते हैं तथा द्रुतचित्त वाले प्रेमी भक्तों को भी आनन्द देते हैं। अन्यथा आत्मारामत्व तथा दुःखी होना एक काल में कैसे सम्भव हो सकते हैं।

श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती ने एक विलक्षण विचार यहाँ किया है—

नच सीतायां रममाणस्य कुतः आत्मारामत्वमिति
वाच्यं सीतायाः स्वरूप शक्तित्वेनात्मभूतत्वात् ।

(विश्वनाथकृत सारार्थदर्शिनी ४।१९।५)।

श्रीसीताजी के साथ रमण करने से आत्मारामत्व में सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि श्रीसीताजी स्वरूप शक्ति हैं। अर्थात् ह्लादिनीसार हैं।

एक ही परमतत्त्व सदा से दो रूपों में विभक्त होकर स्थित है। एकतत्त्व आनन्द के लिये दो हुआ यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। किन्तु सदा से श्रीसीताराम श्रीराधाकृष्ण आदि युगल रूप विद्यमान हैं। एक ह्लाद षडैश्वर्य मय दूसरा केवल ह्लादमय। प्रथम तत्त्व भगवत्तत्व है, दूसरा तत्त्व श्रीतत्त्व भक्तितत्त्व है। पुनः वही चितृशक्ति के वृत्तिभेद से महासार प्रेम द्वारा दूसरा तत्त्व चित्, शक्ति के चार वृत्तिओं द्वारा दूसरे तत्त्व को दास्य-सख्य-वात्सल्य शृंङ्गार रूपों में विभक्त होकर प्रथम तत्त्व को इन भावों से सेवा का विषय होता है। प्राकृत जीव में भक्ति साधना के बाद स्वयं प्रकट होकर इन चारों भावों का विषय वनतां है। पुनः स्वयं स्थायीभाव प्राप्त होकर अपनी शक्ति से ही विभाव-अनुभाव आदि रस सामग्रियों के साथ

वही युगल (श्री सीताराम) तत्त्व विषयालम्बन आश्रयालम्बन बनकर संयोग-वियोग द्वारा सुखी दुःखी होकर अपने असाधारण माधुर्य का आस्वादन करता है। इस रस का रसास्वादन तो केवल भगवत्कृपापात्र सरवेत्ता महानुभाव ही कर सकते हैं, वहिर्मुखी तो यही समझता है कि राम-कृष्ण आदि को भी दुखी होना पड़ा, किन्तु ऐसा कथन केवल व्यामोह मात्र है—(द्रष्टव्य सारार्थदर्शिनी ५।१९।५।) अवतारवाद का इस प्रकार विवेचन अन्यत्र नितान्त दुर्लभ है, वैष्णवाचार्यों की सबसे बड़ी विशेषता यही है। इसी विशेषता के कारण अवतार-रहस्य का उत्तरोत्तर विकाश अद्यावधि अक्षुण्ण है।

अद्वैत वेदान्त में जीव तत्त्व स्वतन्त्र नित्य तत्त्व नहीं है। अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य को ही जीव कहते हैं। ब्रह्म ही उपाधिवश जीव भाव को स्वीकार करता है। उपाधिनाश होते ही जीव-भाव नष्ट हो जाता है। केवल विशुद्ध निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। जब तक उपाधि है तभी तक शरीर इन्द्रिय आदि के स्वामी और शुभाशुभ कर्म फल के भोक्ता आत्मा को जीव कहते हैं। स्वामीशङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में स्पष्ट कहा है—'अस्ति आत्मा जीवाख्य; शरीरेन्द्रिय पञ्जराध्यक्षः कर्म फल सम्बन्धी' (शा० भा० २।३।१७)। आचार्य ने आत्मा को विभु माना है तथा अन्नमय, प्राणमय' मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, इन पाँच कोशों से सर्वथा परे विशुद्ध चैतन्य को ही आत्मा स्वीकार किया है।

विशिष्टाद्वैती आचार्यों ने अद्वैतमत के विपरीत जीवतत्त्व को इस प्रकार स्वीकार किया है—

जीव तत्त्व ईश्वर से पृथक् नित्यतत्त्व है तथा ब्रह्म से जीव

नितान्त भिन्न है। जीव अल्पज्ञ है ईश्वर सर्वज्ञ है, ईश्वर ईश है जीव अनीश है, दोनों अज हैं—'ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशौ १।९।' ईश्वर चेतन के भीतर प्रविष्ट होकर शासन करता है—'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा'।

जो आत्मा के भीतर बैठा हुआ आत्मा से पृथक् है तथा आत्मा जिसको नहीं जानता है, जिसका आत्मा शरीर है, जो आत्मा के भीतर संचरण करता है—नियमन करता है, वही अन्तर्यामी अमृत तुम्हारी आत्मा है—

"य आत्मनि निष्ठनात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद
यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति
स त आत्मान्तर्याम्यमृतः"—(वृह० ३।७।२३।)

इस प्रकार ब्रह्म का शरीर जीव है, तथा ब्रह्म जीव का अन्तर्यामी, नियामक, और प्रेरक आदि है।

विशिष्टाद्वैत में जीव अणु है—

वालाग्र शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च
भागोजीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।
(श्वेता० ५।९)

इस श्रुति के आधार पर समस्त श्रीवैष्णवाचार्यों ने जीव को अणु माना है। आत्मा को विभु मानने में अनेकों दोष उद्भावित किये जाते हैं—

जीव हृदय प्रदेश में निवास करता है। विभु का निवास एक देश में नहीं हो सकता है। आत्मा शरीर से निकलकर अन्य किसी देश विशेष में जाता है, विभु का आना जाना नहीं होता है।

"तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो
वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः" (वृ० ४।४।२)

इस श्रुति में नेत्र, मस्तक एवं शरीर के किसी देश से आत्मा का निष्क्रमण (निकलना) कहा गया है।

जीव अणु होने पर भी सर्वत्र शरीर में व्याप्त होकर सुख दुःख अनुभव उसी प्रकार करता है जिस प्रकार मणि द्युमणि-दीपक आदि प्रकाशक पदार्थ एक देश में स्थित होकर भी अपनी प्रभा से सर्वत्र व्याप्त रहते हैं। आत्मा का ज्ञान व्यापक है अतः सुखदुःख भोगने में कोई विरोध नहीं है। एक काल में ही सौभरि प्रभृति ऋषियों को अनेक शरीर धारण करना ज्ञान की व्याप्ति से ही सम्भव है— लोकाचार्य तत्वत्रय पृ० ११।

इस सिद्धान्त में पञ्चकोश के भीतर ही 'विज्ञानमय' से आत्मा का ग्रहण एवं 'आनन्दमय' से परमात्मा का ग्रहण किया जाता है। क्योंकि 'विज्ञानमय' को क्रिया का आश्रय कर्त्ता कहा गया है— 'विज्ञानं' यज्ञं तनुते कर्माणि च तनुतेऽपि च' (तै० २।५)। यहाँ 'तनुते' इस क्रिया का आश्रय कोई चेतन होगा। अतः 'विज्ञानं' से विज्ञान का आश्रय आत्मा को ही लेना चाहिए, बुद्धि को नहीं। 'तनुते' क्रिया का आश्रय बुद्धि नहीं हो सकती है। 'विज्ञानमय' में मयट् प्रत्यय से भी स्पष्ट व्यतिरेक प्रतीत होता है, अतः विज्ञानमय से विज्ञानाश्रय जीव को ही लेना चाहिये।

इस प्रकार विज्ञानमय से पृथक् ब्रह्म आनन्दमय है—

'तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयात्
अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' (तै० २।५-२)

ब्रह्म ही निरतिशय आनन्द का आश्रय है जीव नहीं; क्योंकि सर्वत्र श्रुतियों में ब्रह्म के विषय में ही आनन्द का प्रयोग अभ्यास द्वारा किया गया है—"आनन्दमयोऽभ्यासात्" (ब्र० सू० १।१।१३)

स्वामी रामानुजाचार्यजी ने इस सूत्र के भाष्य में प्रबल श्रुति प्रमाणों एवं अकाट्य युक्तियों द्वारा उपर्युक्त विषय का विशद

विवेचन किया है।

आचार्य ने "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च", "निरवद्यं निरञ्जनम्" आदि निर्गुण श्रुतियों का एवं 'यस्सर्वज्ञस्ससर्ववित, स्वाभाविकी ज्ञान वल क्रिया च' आदि सगुण श्रुतियों का समन्वय एक ही ब्रह्म में अत्यन्त सुंदर ढंग से किया है—

निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धादुपपद्यन्ते'। 'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः" इति हेयगुणान् प्रतिषिध्य "सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इति कल्याण-गुणान् विदधतीयं श्रुतिरेवान्यत्र सामान्येनावगतं गुणनिषेधं हेय-गुणविषयं व्यवस्थापयति। (श्रीभाष्य पृ० १०७)

अर्थात् परब्रह्म में दूषित-मायिक गुण न होने के कारण वह निर्गुण कहा जाता है। क्योंकि श्रुतियों में 'वह निष्पाप है-जरा, मरण, शोक, क्षुधा और पिपासा रहित है' इस प्रकार त्याज्य (त्यागने योग्य) गुणों को निषेध करके उनमें सत्य-काम, सत्यसंकल्प आदि दिव्य-कल्याणमय गुणोंका विधान किया गया है।

अतः सामान्य रूप से अवगत निर्गुण श्रुति केवल हेय गुणों को निषेध करती हुई कल्याण गुणों की व्यवस्था परमात्मा में करती है। इससे निश्चय हुआ कि परमात्मा अखिल हेय प्रत्यनीक, अनन्तकल्याण गुण सम्पन्न, सगुण, सविशेष है निर्गुण नहीं है। आचार्य ने स्पष्ट कहा है कि—निर्गुण वाक्य हेयगुणों के निषेधपरक होने से तथा सगुण वाक्य दिव्य कल्याण गुण विधान परक होनेसे भिन्न-भिन्न विषय के कारण इन दोनों में से किसी के लिये मिथ्या की कल्पना नहीं हो सकती, ऐसी कल्पना व्यर्थ है—

सगुणनिर्गुणवाक्योर्विरोधाभावादन्यतरस्यमिथ्या-विषमताश्रयणमपि नाशङ्कनीयम् (श्रीभाष्य पृ० ५७ ।)

अद्वैत वेदान्त में 'तत्वमसि' इस महावाक्य का अर्थ अभिधावृत्ति से होने के कारण अगत्या (लाचारी) लक्षणा के सहारे किया गया है । (वे० प० पृ० १२०-१·४)

लक्षणा तीन तरह की मानी जाती है-जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा एवं जहद्जहल्लक्षणा । 'तत्वमसि' में दो लक्षणा घटित नहीं होती है अतः अगत्या तीसरी लक्षणा स्वीकार की गई है--'तत्' पद का अर्थ है परोक्षकालविशिष्ट चैतन्य तथा 'त्वं' पद का अर्थ है अपरोक्षकाल विशिष्ट चैतन्य। यद्यपि यहाँ चैतन्यांश मात्र में कोई विरोध नहीं है किन्तु परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व विशिष्ट अंशों में अवश्य विरोध है।

अतः इन विरुद्ध अंशों के परित्याग के कारण 'जहत्' तथा अखण्ड चैतन्य अंश के ग्रहण 'अजहत्' के कारण इस लक्षणा का नाम जहत्-अजहत्-लक्षणा हुआ । परोक्षत्व अपरोक्षत्व एक भाग त्यागने के कारण इसका नाम भागवृत्ति भी है। स्वामी शंकराचार्यने ब्रह्म० सू० ४।१।२ के स्वकीय भाष्य में इस महावाक्य पर विशद विवेचन किया है । विशिष्टाद्वैती आचार्यों ने 'तत्वमसि' इन महावाक्य का अर्थ अभिधावृत्ति से ही किया है । क्योंकि जब अभिधावृत्ति से अर्थ सुलभ हो सकता है तब लक्षणा का आश्रय लेना गौणपक्ष है।

श्रीरामानुजाचार्यने 'तत्वमसि' का अर्थ अत्यन्त विलक्षण एवं स्पृहणीय किया है—

"तत्पदं हि सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं जगत्कारणं ब्रह्म परामृशति । तदैक्षत बहुस्याम् (छां० ६।२।३) इत्यादिषु प्रकृतत्वात् तत्सामा-

नाधिकरणं त्वं पदं च अचिद् विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति। प्रकारद्वयावस्थितैकवस्तुपरत्वात् समानाधिकरण्यस्य प्रकारद्वय परित्यागे प्रवृत्तिनिमित्तभेदासम्भवेन समानाधिकरण्यमेव परित्यक्तं स्यात्" (श्री भाष्य पृ० ९८)

अर्थात् 'तत्' पद से सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प,जगत् कारण 'ईश्वर' कहा जाता है; क्योंकि "उसने बहुत होने की इच्छा की" इस श्रुति में सविशेष ब्रह्म का ही प्रस्ताव है। तथा 'त्वं' पद से अचिद् विशिष्ट जीव शरीरवाला ःब्रह्म का पतिपादन है। क्योंकि विभिन्न प्रकार पदार्थों का एकार्थ बोधन करना ही समानाधिकरण कहा गया है।

'तत्' और 'त्वं' पदों में यदि प्रकारगत भेद न माना जाय तब तो प्रवृत्ति निमित्त का भेद न होने के कारण दोनों पदों का समानाधिकरण ही न बन सकेगा। मुख्यार्थ की सम्भावना में ल ण; को स्वीकार करना दोष है।

अद्वैत वेदान्त में 'तत्वमसि' इस महावाक्य का लौकिक उदाहरण 'सोऽयं देवदत्तः' है, इसका अर्थ है—गत दिवस काशी में देखा गया देवदत्त यही है। इस वाक्य का तात्पर्य कालिक विरोध को छोड़कर देवदत्त की एकता स्थापित करने में है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में लक्ष्मणा का गन्ध भी नहीं है, क्योंकि विरोध का अभाव है; अर्थात् अतीत का सम्बन्ध देशान्तर से हैं तथा वर्तमान का सम्बन्ध सन्निहित देश से है। अतः देश द्वय सम्बन्ध का विरोध कालभेद के कारण नहीं है। जो देवदत्त कल काशी में था वही आज अयोध्या में है इस वाक्य में कालभेद से कोई विरोध नहीं है, एक काल में दोनों स्थानों में एक व्यक्ति की स्थिति अयुक्त

होने पर भी काल भेद से युक्तियुक्त है। इस प्रकार अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत वेदान्त में अनेकों भेद प्रतीत होते हैं।

अद्वैती आचार्यों ने ब्रह्म स्वरूप के वास्तविक निर्णय में दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है—एक स्वरूप लक्षण तथा दूसरा तटस्थ लक्षण। स्वरूप लक्षण वस्तु का वास्तविक स्वरूप बतलाता है तथा तटस्थ लक्षण कुछ काल टिकनेवाला आगन्तुक गुणों का स्वरूप बतलाता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ० उ० ३।९।२८) इस प्रकार श्रुतियाँ ब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादक हैं। तथा 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' यह श्रुति ब्रह्म का तटस्थ लक्षण प्रतिपादन करती है। किन्तु विशिष्टाद्वैती आचार्यों के मत में इस प्रकार द्विविध लक्षण सम्पन्न ब्रह्म नहीं हैं, प्रत्युत एक ही ब्रह्म को निर्गुण-सगुण वाक्य निरूपण करता है, अखिल हेयप्रत्यनीक—अनन्त कल्याण गुणगण सम्पन्न विशेषणों का यही रहस्य है।

अद्वैत सिद्धांत में अविद्या की निवृत्ति का ही नाम मोक्ष है। अर्थात् जब आचार्य द्वारा 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों के उपदेश होने पर अज्ञानजन्य औपाधिक भेद की निवृत्ति हो जाती है तब प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। इसी का नाम जीवन्मुक्ति है। मुक्त होने पर आत्मा का ब्रह्म के साथ अभेद हो जाता है।

परन्तु विशिष्टाद्वैत में आत्मा मुक्त होने पर भी ब्रह्म के समान ही होता है किन्तु अभिन्न नहीं। इस प्रकार मुक्तावस्था में जीव अप्राकृत शरीर धारणकर ब्रह्म का अनुभव करता है। अतः जीवतत्व बद्ध मुक्त सभी अवस्थाओं में भगवान् से भिन्न ही रहता है अभिन्न नहीं।

अद्वैत वेदान्त में माया कोई वास्तविक तत्व नहीं है। भगवान् की अव्यक्त शक्ति का ही नाम माया है जो त्रिगुणात्मिका है तथा

अविद्या स्वरूपा है; यही माया जगत् को उत्पन्न करती है—

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते॥
(विवेक चूड़ामणि श्लोक ११०)

यह माया ब्रह्मज्ञान से बाधित होने के कारण 'सत्' नहीं है तथा प्रतीति होने के कारण 'असत्' भी नहीं कह सकते हैं। अतः सत्-असत् दोनों से अनिर्वचनीय है।

जिस प्रकार अन्धकार सूर्य को नहीं सह सकता, उसी प्रकार माया विचार को नहीं सह सकती है।

यह भ्रान्ति स्वरूपा है। आवरण विक्षेप इन दो शक्तियों के सहारे अज्ञानी जीव को तत्व के विषय में मोह उत्पन्न कराती रहती है।

आवरण शक्ति से माया ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को ढक लेती हैं तथा विक्षेप शक्ति से उस निर्विशेष ब्रह्म में आकाश आदि प्रपञ्चों को उत्पन्न कर देती है। विशुद्ध ज्ञानोदय होने पर माया की निवृत्ति हो जाती है।

विशिष्टाद्वैती आचार्यों ने अद्वैतमत के विपरीत अचित् तत्व को इस प्रकार स्वीकार किया है—ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तु को 'अचित्' कहते हैं। यह शुद्धसत्व मिश्रसत्व एवं सत्वशून्य भेद से तीन प्रकार के हैं। श्रुति में अचित् को भोग्य शब्द से कहा गया है।

शुद्धसत्व का ही नाम है त्रिपादविभूति, वैकुण्ठ, अयोध्या आदि। यह शुद्धसत्व रज और तम से रहित है तथा ज्ञान आनन्द का जनक है। यह चतुर्विंशतितत्व रूप से परिणत विविध भोग्य-भोगोपकरण-भोगस्थान रूप में स्थित प्रकृतितत्व नहीं है जो चेतनों के कर्मानुसार प्राप्त होता है। यह नित्यविभूति तो केवल भगवान् की इच्छा से विमान-गोपुर-मण्डप-प्रासाद आदि रूप में विद्यमान है, निरवधिक

तेज सम्पन्न, नित्य मुक्त पार्षद एवं भगवान् से भी जिसका परिच्छेद न हो सके ऐसे चमत्कार पूर्ण विलक्षण वस्तु को ही शुद्धसत्व अथवा भगवद्धाम कहते हैं।   (लोकाचार्य तत्वत्रय पृ० ३४)

शुद्धसत्व नित्य विभूति को कुछ विद्वान् जड़तत्व मानते हैं किन्तु वेदान्तदेशिकस्वामी एवं श्रीनिवासाचार्यप्रभृति आचार्यों ने इसे चित् तत्व ही माना है। श्रीनिवासाचार्य ने यतीन्द्रमत-दीपिका में नित्य विभूति का निरूपण करते हुए इसे अजड़तत्व एव स्वयं प्रकाश माना है—

'अजड़त्वं नाम स्वयं प्रकाशत्वम्'

श्रीवेदान्तदेशिकस्वामी ने भी स्वयं प्रकाश एवं अजड़तत्व तत्व-मुक्ताकलाप (१।६) में स्वीकार किया है। स्वयं प्रकाश होने पर भी आत्मा एवं ज्ञान से नित्य विभूति में भेद है, क्योंकि इसका अहं रूप से भान नहीं होता है, तथा शरीर आदि रूप से परिणाम भी होता है। धर्मभूत ज्ञान का संकोच विकास रूप परिणाम होने पर भी शरीर आदि रूप से परिणाम नहीं होता है। अतः आत्मा एवं ज्ञान से शुद्धसत्व में भेद स्पष्ट है। श्रीवेदान्तदेशिक-स्वामी ने प्रमेयों की गणना इस प्रकार की है :—

द्रव्याद्रव्य प्रभेदान्मितमुभय विधं तद्विदस्तत्त्वमाहुः,
द्रव्यं द्वेधा विभक्तं जडमजडमिति प्राच्यमव्यक्तकालौ।
अन्त्यं प्रत्यक्पराक्च प्रथममुभयथा तत्र जीवेशभेदात्,
नित्याभूतिर्मतिश्चेत्यपरमपिजडामादिमां केचिदाहुः

(तत्वमुक्ताकलाप १।६)

द्रव्य एवं अद्रव्य के भेद से प्रमेय दो प्रकार के हैं ऐसा तत्त्ववेत्तागण कहते हैं। जड़ तथा अजड़ के भेद से द्रव्य दो प्रकार के हैं। प्रकृति तथा काल के भेद से जड़ द्रव्य दो प्रकार के हैं। प्रत्यक् तथा पराक् के भेद से अजड़ द्रव्य भी दो प्रकार के हैं। जीव तथा ईश्वर

के भेद से प्रत्यक् के भी दो भेद हैं। नित्य विभूति तथा धर्मभूतज्ञान के भेद से पराक् के भी दो भेद हैं। कुछ साम्प्रदायिक विद्वान् नित्य-विभूति को जड़ द्रव्य में गणना करते हैं।

वेदान्तदेशिक स्वामी ने न्यायसिद्धाञ्जन में द्रव्यों का विभाग इस प्रकार किया है:—

जड़ अजड़ के भेद से द्रव्य दो प्रकार के हैं। अथवा प्रत्यक् एवं पराक् के भेद से द्रव्य दो प्रकार के है। अथवा त्रिगुण, काल, जीव, ईश्वर, भाग—विभूति एवं धर्मभूत ज्ञान के भेद से द्रव्य ६ प्रकार के हैं। कुछ विद्वान् प्रकृति, जीव एवं ईश्वर के भेद से तत्त्वों का विभाजन तीन प्रकार से करते हैं।

त्रेधा तत्त्वं विविञ्चते केचित्

(न्याय० सि० जड़० परि०)

श्रीनिवासाचार्य ने भी यतीन्द्रमतदीपिका में उपरोक्त ६ प्रकार के द्रव्य स्वीकार किये हैं—

तानि द्रव्याणि षट्—प्रकृतिकालशुद्धसत्व धर्मभूतज्ञानजीवेश्वरभेदात्।

पूज्य श्री परकाल स्वामी ने 'भाव प्रकाश' नामक तत्त्व मुक्ताकलाप की टीका में द्रव्यों का संक्षिप्त विवेचन अत्यन्त समीचीन रीति से किया है—

अथवा द्रव्यं द्विविधम्, आत्मानात्मभेदात्। त्रेधा वा भोक्तृभोग्यनियन्तृ श्रुत्यनुसारात्। षोढा वा—त्रिगुणकालजीवेश्वरशुद्धसत्वमति भेदात्। एकं वा इतरविशिष्टं प्राधान्यतः परं ब्रह्म मुमुक्षुभिः प्रकर्षेण मेयत्वश्रुतेः इति न्याय परिशुद्धिः।

अशेषचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैकमेव तत्वम्, तदन्तर्गतं च सर्वं द्रव्याद्र-व्यात्मना विभक्तं इति न्याय सिद्धाञ्जनम्।

आत्मा-अनात्मा के भेद से द्रव्य दो प्रकार के हैं। श्रुति में प्रकृति को भोग्य, जीव को भोक्ता तथा ईश्वर को नियामक कहा गया है। अतः द्रव्य तीन प्रकार के हैं। प्रकृति, काल, जीव, ईश्वर शुद्धसत्त्व एवं धर्मभूत ज्ञान के भेद से द्रव्य छ प्रकार के हैं। विशेषण विशिष्ट एक ही ब्रह्मतत्व है। यह न्याय परिशुद्धि तथा न्यायसिद्धाञ्जन में कहा गया है।

विशिष्टाद्वैत के अधिकांश आचार्यों ने समस्त द्रव्यों को तत्वत्रय के रूप में स्वीकार किया है ईश्वर जीव एवं माया-ये तीन तत्व हैं। वे धर्मभूतज्ञान नित्यविभूति एवं काल का इन्हीं तत्वत्रय में अन्तर्भाव मानते हैं।

धर्मभूतज्ञान जीवात्मा का धर्म है अतः जीव तत्व में उसका अन्तर्भाव युक्तियुक्त है। नित्यविभूति मङ्गलमय दिव्य विग्रह के रूप में परमात्मा के विशेषण बनकर रहती है, अतः ईश्वरतत्व में उसका अन्तर्भाव समुचित है। काल प्रकृति के परिणामों का कारण है। प्रकृति के विशेषण के रूप में विद्यमान रहता है, अतः त्रिगुणतत्व में काल का अन्तर्भाव स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार धर्मभूतज्ञान आदि तीनों तत्वों को तत्वत्रय के रूप में स्वीकार करने वाले आचार्यों ने इनकी पृथक् गणना नहीं की है। वेदान्त देशिक स्वामी ने अधिकार संग्रह में कहा है:—

प्रकृत्यात्मभ्रान्तिर्गलति चिदचिल्लक्षणधिया, तथा जीवेशैक्य प्रभृति कलहस्तद् विभजनात्। अतो भोक्ता भोग्यं तदुभय नियन्तेति निगमैर्विभक्तं नस्तत्त्वत्रयमुपदिशन्त्यक्षतधियः॥

प्रकृति अचेतन है, जीवात्मा चेतन है, अतः प्रकृति में जीवात्मा का भ्रम दूर हो जाता है। जीव अल्पज्ञ है, अणु, एवं भगवान् का शेष है, अतः ईश्वर और जीव की एकता कभी भी सम्भव नहीं है। वेदान्तनिष्णात अचार्यगण प्रकृति को भोग्य आत्मा को भोक्ता तथा परमात्मा को प्रेरक के रूप में तत्वत्रय का उपदेश हमको करते हैं।

पूर्व में द्रव्य तथा अद्रव्य के रूप में दो प्रकार के प्रमेय कहे गये थे। द्रव्य का संक्षिप्त परिचय दिया गया।

अद्रव्य निरूपणः—

वेदान्तदेशिक स्वामी ने न्याय सिद्धाञ्जन में अद्रव्य का निरूपण विस्तार से किया है। संयोग से रहित वस्तु को अद्रव्य कहते हैं, अर्थात् जिस पदार्थ में किसी दूसरे का संयोग नहीं होता है, तथा जो दूसरों से स्वयं भी संयुक्त नहीं होता है उसी को 'अद्रव्य' कहते हैं:—

संयोगरहितमद्रव्यम् । (न्या० सि०)

यद्यपि श्रीवरदविष्णुमिश्र ने अद्रव्यों को अनन्त कहा है—

"गुणाश्चानन्ताः"

वेदान्तदेशिकस्वामी ने भी स्वीकार किया है कि अद्रव्य अनन्त हैं उनके भेद भी अनन्त है। अतः उन सभी अद्रव्यों का सम्यक् निरूपण सर्वथा असम्भव है। तदपि कुछ प्रसिद्ध अद्रव्यों की गणना की जा सकती है।

सत्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग एवं शक्ति के भेद से अद्रव्य दश हैं। गुरूत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, संख्या, परिमाण' पृथक्त्व, विभाग, परत्व, अपरत्व, कर्म, सामान्य, सादृश्य, विशेष, समवाय, अभाव तथा वैशिष्ट्य का पूर्वोक्त अद्रव्यों में ही अन्तर्भाव स्वीकार किया गया है— (द्रष्टव्य-न्या० सि०)

स्वामी श्रीरामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य में सत्व रज, तम आदि को द्रव्य का धर्म स्वीकार किया है—

यतस्सत्त्वादयो द्रव्यधर्माः नतु द्रव्यस्वरूपम् । सत्वादयो हि पृथिव्यादिद्रव्यगत लघुत्व प्रकाशादि हेतुभूतास्तत्स्वभावविशेषा एव, न तु मृद्-हिरण्यादिवद् द्रव्यतया कार्यान्विता उपलभ्यन्ते । गुणा इत्येव च सत्वादीनां प्रसिद्धिः । (श्रीभाष्य ब्र० सू० २।१।१)

सत्व; रज; तम द्रव्य के धर्म हैं, स्वयं द्रव्य नहीं हैं। सत्व आदि गुण पृथिवी आदि द्रव्यों में होने वाले लघुता, प्रकाश आदि के कारण हैं, एवं पृथिवी आदि के स्वाभाविक धर्म हैं।

जिस प्रकार मृत्तिका कार्यभूत घट के प्रति तथा सुवर्ण कटक कुण्डल आदि के प्रति अनुवर्तमान प्रतीत होते हैं उसी प्रकार सत्व आदि गुण द्रव्य होकर कार्य में अन्वित प्रतीत नहीं होते। 'सत्व आदि गुण हैं' सत्व आदि के विषय में ऐसी ही सर्वत्र प्रसिद्धि है।

न्याय सिद्धाञ्जन के अद्रव्य परिच्छेद में श्री वेदान्तदेशिक स्वामी ने सत्व आदि दश अद्रव्यों का विशद विवेचन किया है।

गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वासना, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, विभाग, परत्व, अपरत्व, कर्म तथा सामान्य को भी सत्व आदि अद्रव्यों में समावेश करते हुए इनका सम्यक् निरूपण किया है। किन्तु इसके आगे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता; अतः सादृश्य, समवाय, अभाव तथा वैशिष्ट्य का निरूपण न्यायसिद्धाञ्जन में नहीं हो सका। इनमें से कुछ प्रमेयों का निरूपण न्याय परिशुद्धि के प्रमेयाध्याय में किया गया है।

अचित् (प्रकृति तत्व) निरूपण

श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी ने द्रव्यों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया है :—

तत्र द्रव्यं दशावत् प्रकृतिरिह गुणैस्सत्वपूर्वैरुपेता,
कालोऽब्दाद्याकृतिस्स्यादणुरवगतिमान् जीव ईशोऽन्य आत्मा ।

संप्रोक्ता नित्यभूतिस्त्रिगुणसमधिका सत्वयुक्ता तथैव,
ज्ञातुर्ज्ञेयावभासो मतिरिति कथितं संग्रहाद्द्रव्यलक्ष्म ॥
(तत्वमुक्ताकलाप १।७)

विकार धर्मवाला द्रव्य कहलाता है अथवा अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध से आगन्तुक धर्मवाला द्रव्य कहलाता है। उपादान एवं अवस्थाश्रय भी द्रव्य का लक्षण कहा जाता हैं।

स्वरूपतः परिणाम होने से प्रकृति अनेक अवस्थायें धारण करती है। अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति, ये ६ परिणाम प्रकृति के प्रसिद्ध हैं, अतः प्रकृति में अवस्थाश्रयत्व सुस्पष्ट है।

जीवात्मा अपने शरीर द्वारा बाल्य, कैशोर, यौवन आदि अवस्थाओं को प्राप्त करता है। अतः जीवात्मा का अवस्थाश्रय होना युक्तियुक्त है।

परमात्मा सूक्ष्म चित् एवं अचित् के द्वारा स्थूल अवस्था को धारण करता है अतः चित्-अचित् के द्वारा परमात्मा का अवस्थाश्रय होना सुतरां उपपन्न है। इसी दृष्टि से भावप्रकाशकार ने 'विकारधर्मवत्' की व्याख्या करते हुये 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध से विकार धर्म वाला' कहा है। धर्मभूतज्ञान का संकोच विकास होता है, अतः अवस्थाश्रय होना सिद्ध है।

क्षण आदि के भेद से काल का अवस्थाश्रय होना प्रमाण सिद्ध है तथा शुद्ध सत्वमय नित्य विभूति भगवत् संकल्प से गोपुर, प्राकार मण्डप, विमान एवं उद्यान आदि के रूप में विविध भेदों से परिणत होती है, अतः नित्य विभूति का अवस्थाश्रय होना शास्त्र सम्मत है।

परत एव भासमानं जडम्, तदन्यदजडम्, स्वस्मै भासमानं प्रत्यक्। परस्मै भासमानं परागिति व्यवहरन्ति। तेनाजडाया अपि

मतेः पराक्त्वं सिद्धम् । (न्याय सि०)

जो द्रव्य दूसरों के द्वारा प्रकाशित होता है उसको जड़ कहते हैं। काल और प्रधान (त्रिगुण) धर्मभूत ज्ञान के द्वारा ही प्रकाशित होते हैं, अतः ये दोनों जड़द्रव्य कहे जाते हैं। जड़ से जो भिन्न द्रव्य है वह अजड़ है। अजड़ द्रव्य किसी दूसरे के द्वारा प्रकाशित नहीं होता प्रत्युत् स्वयं प्रकाशित होता है।

ईश्वर, जीव, धर्मभूत ज्ञान एवं नित्यविभूति अजड़ द्रव्य हैं क्योंकि ये चारों स्वयं प्रकाशवस्तु हैं। जो द्रव्य अपने लिए प्रकाशित होता है वह 'प्रत्यक्' कहलाता है। जीव और ईश्वर दोनों प्रत्यक् हैं क्योंकि ये दोनों स्वयं प्रकाशित होते हैं तथा स्वयं प्रकाश से होने वाले व्यवहाररूपी फल को भी स्वयं प्राप्त करते हैं।

जो द्रव्य दूसरों के लिये ही प्रकाशित होते हैं वे 'पराग्' कहलाते हैं। नित्यविभूति, धर्मभूतज्ञान, त्रिगुणात्मिकाप्रकृति एवं काल ये चारों 'पराग्' द्रव्य कहलाते हैं। ये चारों द्रव्य जीव एवं ईश्वर के लिये प्रकाशित होते हैं अपने लिये नहीं। अतः ये 'पराग्' हैं।

धर्मभूतज्ञान स्वयं प्रकाश होने पर भी दूसरों के लिये प्रकाशित होने के कारण पराग् द्रव्य कहलाते हैं। सर्वार्थसिद्धि, आनन्ददायिनी भाव आकाश आदि व्याख्याओं एवं न्यायसिद्धाञ्जन यतीन्द्रमत-दीपिका के अनुसार द्रव्य का संक्षिप्त लक्षण कहा गया। पृथक् २ द्रव्यों का भी संक्षिप्त परिचय श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी ने पूर्वोक्त एक ही श्लोक में दे दिया है:—

विकार धर्म वाला द्रव्य का लक्षण कहा गया। सत्व आदि गुणों से युक्त प्रकृति कही जाती है। वर्ष, मास आदि के रूप में काल का ज्ञान होता है। अणुस्वरूप एवं ज्ञान गुण वाला जीवात्मा कहा जाता है। सर्व प्रेरक सर्व व्यापक चेतनों का भी अन्तरात्मा परमात्मा का

लक्षण है। शुद्ध सत्त्वमय नित्यविभूति कही जाती है। मैं जानता हूँ (अहं जानामि) ऐसा अहमर्थ का आश्रय एवं सकर्मक प्रकाश स्वरूप धर्मभूतज्ञान का लक्षण है। इस प्रकार द्रव्यों का संक्षिप्त लक्षण कहा गया। आगे अचित् तत्त्व का वर्णन किया जाता है।

एतद् ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥

(श्वे० १।१२)

भोक्ता (जीव) भोग्य (प्रकृति) प्रेरक (परमात्मा) ये तीन प्रकार के ब्रह्म कहे गये हैं। संयमपूर्वक इन्हीं तीनों तत्त्वों का ज्ञान करना चाहिये। इससे बढ़कर और कोई भी वस्तु जानने योग्य नहीं है।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्। क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।

(श्वे० १।९।१०)

इन श्रुतियों में स्पष्ट रूप से तत्त्वत्रय के ज्ञान से माया की निवृत्ति कही गई है।

त्रिगुण द्रव्य पार्श्व एवं नीचे की दिशाओं में अनन्त एवं अपरिच्छिन्न है। ऊपर की दिशा में अपरिच्छिन्न नहीं है, किन्तु परिच्छिन्न है। ऊपर की दिशा में त्रिगुण की सीमा नित्यविभूति पर्यन्त है। जहाँ से नित्यविभूति प्रारम्भ होती है, ऊपर वहाँ तक त्रिगुण द्रव्य फैला हुआ है, अतः ऊपर सीमित है।

'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'

इस श्रुति में नित्यविभूति को त्रिगुण से परे कहा गया है। विष्णु पुराण में त्रिगुण के सम्बन्ध में इस प्रकार का वचन मिलता है:—

तदनन्तमसंख्यातप्रमाणं चापि वै यतः ।
हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिः सा परा मुने ॥

हे मुने! वह परा प्रकृति सबका कारण है, अनन्त एवं असंख्य परिणामवाली है। इस श्लोक से भी यही तात्पर्य निकलता है कि त्रिगुण द्रव्य ऊपर भोगविभूति से सीमित है तथा नीचे और चारों दिशाओं में अनन्त एवं अपरिच्छिन्न है।

तच्च विचित्रसृष्ट्युपकरणत्वान्माया, विकारान् प्रकरोतीति प्रकृतिः, विद्याविरोधादिभिरविद्यादिश्चोच्यते । (न्याय सि०)

वह त्रिगुण द्रव्य विचित्र सृष्टि का उपकरण है, इसलिये शास्त्रों में माया कही जाती है। विकारों को उत्पन्न करती है अतः प्रकृति कही जाती है तथा विद्या विरोधि होने के कारण अविद्या कही जाती है।

श्वेताश्वेतर उपनिषद् में कहा गया है—

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् । तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरूद्धः ॥

इस प्रधान से मायी (परमात्मा) विश्व की सृष्टि करता है तथा अन्य जीव इस विश्व में माया के वश में रहता है। माया का परिचय देती हुई दूसरी श्रुति कहती है—

मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम् । (श्वे०)

माया को प्रकृति कहते हैं तथा मायी (परमात्मा) को महेश्वर कहा जाता है। इस प्रकार प्रकृति को माया शब्द से निर्देश किया गया है। विचित्र सृष्टि के उपकरण होने से ही प्रकृति माया कहलाती

लक्षण है। शुद्ध सत्वमय नित्यविभूति कही जाती है। मैं जानता हूँ (अहं जानामि) ऐसा अहमर्थ का आश्रय एवं सकर्मक प्रकाश स्वरूप धर्मभूतज्ञान का लक्षण है। इस प्रकार द्रव्यों का संक्षिप्त लक्षण कहा गया। आगे अचित् तत्व का वर्णन किया जाता है।

एतद् ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥
(श्वे० १।१२)

भोक्ता (जीव) भोग्य (प्रकृति) प्रेरक (परमात्मा) ये तीन प्रकार के ब्रह्म कहे गये हैं। संयमपूर्वक इन्हीं तीनों तत्वों का ज्ञान करना चाहिये। इससे बढ़कर और कोई भी वस्तु जानने योग्य नहीं है।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्। क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। तस्याभिध्याना-द्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।

(श्वे० १।९।१०)

इन श्रुतियों में स्पष्ट रूप से तत्वत्रय के ज्ञान से माया की निवृत्ति कही गई है।

त्रिगुण द्रव्य पार्श्व एवं नीचे की दिशाओं में अनन्त एवं अपरिच्छिन्न है। ऊपर की दिशा में अपरिच्छिन्न नहीं है, किन्तु परिच्छिन्न है। ऊपर की दिशा में त्रिगुण की सीमा नित्यविभूति पर्यन्त है। जहाँ से नित्यविभूति प्रारम्भ होती है, ऊपर वहाँ तक त्रिगुण द्रव्य फैला हुआ है, अतः ऊपर सीमित है।

'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'

इस श्रुति में नित्यविभूति को त्रिगुण से परे कहा गया है। विष्णु पुराण में त्रिगुण के सम्बन्ध में इस प्रकार का वचन मिलता है:—

तदनन्तमसंख्यातप्रमाणं चापि वै यतः।
हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिः सा परा मुने॥

हे मुने! वह परा प्रकृति सबका कारण है, अनन्त एवं असंख्य परिणामवाली है। इस श्लोक से भी यही तात्पर्य निकलता है कि त्रिगुण द्रव्य ऊपर भोगविभूति से सीमित है तथा नीचे और चारों दिशाओं में अनन्त एवं अपरिच्छिन्न है।

तच्च विचित्रसृष्ट्युपकरणत्वान्माया, विकारान् प्रकरोतीति प्रकृतिः, विद्याविरोधादिभिरविद्यादिश्चोच्यते। (न्याय सि०)

वह त्रिगुण द्रव्य विचित्र सृष्टि का उपकरण है, इसलिये शास्त्रों में माया कही जाती है। विकारों को उत्पन्न करती है अतः प्रकृति कही जाती है तथा विद्या विरोधि होने के कारण अविद्या कही जाती है।

श्वेताश्वेतर उपनिषद् में कहा गया है—

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्। तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरूद्धः॥

इस प्रधान से मायी (परमात्मा) विश्व की सृष्टि करता है तथा अन्य जीव इस विश्व में माया के वश में रहता है। माया का परिचय देती हुई दूसरी श्रुति कहती है—

मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्। (श्वे०)

माया को प्रकृति कहते हैं तथा मायी (परमात्मा) को महेश्वर कहा जाता है। इस प्रकार प्रकृति को माया शब्द से निर्देश किया गया है। विचित्र सृष्टि के उपकरण होने से ही प्रकृति माया कहलाती

है। श्रुति-स्मृति प्रमाणों के अनुसार माया का अर्थ मिथ्या सिद्ध नहीं होता है। माया को श्रुति 'अजा' कहती है :—

अज मेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। (श्वे०)

लाल, कृष्ण एवं शुक्ल रंग वाली अपने समान त्रिगुणात्मक प्रजाओं को सृष्टि करने वाली एक (प्रकृति) अजा (नित्य) है। अद्वैती विद्वानों ने माया को अनिर्वचनीय एवं मिथ्या कहा है किन्तु विशिष्टाद्वैती विद्वानों ने प्रवल प्रमाणों से अद्वैतमत का खण्डन किया है। विचित्र सृष्टि करने के कारण ही प्रकृति को माया कहते हैं। गूढ़ार्थ संग्रह में परकाल स्वामी ने लिखा है कि किसी भी कोश में माया का अर्थ मिथ्या उपलब्ध नहीं होता है :—

मिथ्यार्थे कोशादिविरहात् श्रुत्यादिनिर्वचनविरहात्

स्वामी श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि माया शब्द सर्वत्र मिथ्या के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि असुर-राक्षस आदि के माया समूहों को सत्य के अर्थ में प्रयोग देखा जाता है :—

नहि सर्वत्र माया शब्दो मिथ्या विषयः। आसुरराक्षसास्त्रादिषु सत्येष्वेव मायाशब्द प्रयोगात्। यथोक्तम् :—

तेन माया सहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना।
बालस्य रक्षता देहमेकैकश्येन सूदितम्। इति।

अतो माया विचित्रार्थ सर्गकराभिधायी। प्रकृतेश्च माया शब्दाभिधानं विचित्रार्थसर्गकरत्वादेव। (श्रीभाष्य)

अर्थात् भक्त प्रह्लाद की रक्षा करते हुए भगवान् ने अपने चक्रायुध से शम्बरासुर की हजारों मायाओं को एक-एक कर काट डाला। अतएव विचित्र सृष्टि के उपकरण होने के कारण ही प्रकृति को माया शब्द से यत्र तत्र प्रयोग प्रसिद्ध है। श्रुतप्रकाशिकाकार लिखते हैं:—

नहि ज्ञानबाध्यान.मेकैकशः शस्त्रच्छेद्यत्वमस्ति, तस्मादेकैकशो मायानां छेद्यत्ववचनात् मायाशब्दस्य सत्यपरत्वमिति ।

अर्थात् ज्ञान से बाधित होने योग्य माया का छेदन शस्त्रों से सम्भव नहीं है । 'एक-एक माया का छेदन किया गया' इस वचन से माया की सत्यता सुस्पष्ट प्रतीत होती है । आश्चर्य एवं विस्मय योग्य कार्यों में माया के प्रयोग देखे जाते हैं ।

श्रीरामानुजाचार्य ने चित्-अचित् (मायाजीव) विशिष्टब्रह्म को जगत्कारण स्वीकार किया है । प्रकृति अनादि है । मन्त्रिकोपनिषद् में प्रकृति को आदि अन्त रहित कहा गया है :—

'गौरनाद्यनन्तवती' ।

गीता में भी प्रकृति एवं पुरुष को अनादि कहा गया है :—

'प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि' ।

सृष्टि के अन्त में प्रकृति सूक्ष्म रूप से परमात्मा के विशेषण बनकर रहती है । नष्ट नहीं होती है :—

महानव्यक्ते लीयते, अव्यक्तमक्षरे लीयते, अक्षरं तमसि लीयते, तमः परे देव एकी भवति । (सुबाल उपनिषद्)

स्वामी रामानुजाचार्य कहते हैं कि अत्यन्त सूक्ष्मावस्था में प्रकृति को 'तम' शब्द से कहा जाता है । तम को परमात्मा में एकी भाव कहा गया है, लय नहीं कहा गया है :—

तमस एकी भ.वमात्रमेव श्रूयते' न तु लयः । (श्रीभाष्य)

श्रीरामानुजाचार्य ने वेदार्थ संग्रह में तिरोधानानुपपत्ति का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अद्वैतवादी ब्रह्म को निर्विशेषज्ञानमात्रस्वरूप मानते हैं । ब्रह्म का स्वस्वरूप अच्छादिका अविद्या से तिरोहित होकर अपने में भेदप्रपञ्च को देखता है । अद्वैतवादियों का यह सिद्धान्त

समीचीन नहीं है। प्रकाश का नाश होना ही तिरोधान है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप होने से स्वयंप्रकाश है। प्रकाश स्वरूप है, धर्म नहीं। यदि प्रकाश धर्म मानाजायगा तो वह स्वरूपातिरिक्त सिद्ध होगा। अद्वैतियों ने प्रकाश को धर्म स्वीकार नहीं किया है क्योंकि ऐसा मानने पर ब्रह्म सधर्मक सिद्ध हो जायगा। इसी कारण से अद्वैतवादियों ने प्रकाश को धर्म न मानकर ब्रह्म का स्वरूप माना है। प्रकाश का नाश ही तिरोधान है, और प्रकाश ही ब्रह्म है, ऐसी स्थिति में अविद्या से ब्रह्मस्वरूप का तिरोधान होने पर ब्रह्मस्वरूप ही नष्ट हो जायगा। अद्वैती तो ब्रह्म को नित्य मानते हैं, किन्तु उपर्युक्त दोष से ब्रह्म अनित्य हो जायगा।

अविद्या से प्रकाश तिरोहित होता है, इसका क्या भाव है? अविद्या से प्रकाश की उत्पत्ति रुकजाती है, या विद्यमान प्रकाश का नाश हो जाता है? अद्वैतवादियों ने ब्रह्मस्वरूपप्रकाश की उत्पत्ति नहीं स्वीकार किया है, इसलिये प्रकाश की उत्पत्ति रुक जाती है यह बात नहीं घटती है। यदि प्रकाश का विनाश तिरोधान माना जाय तो ब्रह्म का ही नाश हो जायगा। यदि प्रकाशात्मक ब्रह्म को नित्यनिर्विकार मानते हैं तो यह मानना होगा कि अविद्या से ब्रह्म का कुछ भी तिरोहित नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में जब तिरोधान ही सिद्ध नहीं हुआ तो 'ब्रह्म अविद्या से तिरोहित होकर भेद प्रपञ्च को देखता है' यह सर्वथा अनुपयुक्त है।

इस पर अद्वैतियों का कहना है कि विशिष्टाद्वैत मत में भी जीवात्मा ज्ञानस्वरूप होने से स्वयंप्रकाश है। संसार में उस जीवात्म स्वरूप का कर्म से तिरोधान होता है यह स्वीकार करते हैं। जीवात्मा कर्म से तिरोधान होने पर ही स्वस्वरूप को यथार्थ न समझकर देहात्मभ्रम एवं स्वतन्त्रात्मभ्रम में पड़ जाता है। कर्म से प्रकाशस्वरूप जीवात्मस्वरूप को तिरोधान मानने पर 'जीवात्म-

स्वरूप को नष्ट होना यह मानना पड़ेगा, क्योंकि प्रकाश का नाश ही तिरोधान है, जीव प्रकाश स्वरूप है।

इस प्रश्न का उत्तर श्रीरामानुजाचार्यजी ने बहुत ही सुन्दर ढंग से दिया है। उन्होंने कहा—जीवात्मा स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप है। उसमें एक ज्ञान धर्म बनकर रहता है जिसको धर्मभूतज्ञान कहते हैं। जिस प्रकार दीप और प्रभा ये दोनों तेजो द्रव्य हैं, इनमें दीप धर्मी है, प्रभा धर्म है। उसी प्रकार आत्मा और उसका ज्ञान ये दोनों ज्ञानद्रव्य हैं। इनमें आत्मा धर्मी है और ज्ञान उसका धर्म है। प्रभा जिस प्रकार संकोच और विकास को प्राप्त करती है उसी प्रकार आत्मा का स्वाभाविक धर्म बनने वाला ज्ञान भी कर्म से संकोच एवं विकास को प्राप्त होता रहता है। मेरे मत में आत्मा सविशेष है, निर्विशेष नहीं। आत्मा में अहन्त्व, अणुत्व, नित्यत्व, देहातिरिक्तत्व, प्रकृतिविलक्षणत्व और भगवद्दासत्वादि अनेक धर्म हैं। इनमें अहन्त्व धर्म को लेकर आत्मा सदा स्वयं प्रकाश स्वरूप रहता है। अन्य धर्म आत्मस्वरूप के द्वारा प्रकाशित होने वाला नहीं है, वे धर्मभूतज्ञान के द्वारा प्रकाशित होता है। धर्मभूतज्ञान कर्म से संकुचित होकर उन गुण स्वभावों को जब प्रकाशित नहीं करता तब उतने रूप में आत्मा का तिरोधान हो जाता है।

अद्वैतियों के मत में आत्मा निर्विशेष, निर्धर्मक एवं निर्गुण है। उसमें कोई गुण धर्म नहीं रहता। प्रकाश ही आत्मा का स्वरूप है। प्रकाश आत्मा का धर्म है उसका संकोच विकास होता है तिरोधान करनेवाले कर्म केवल प्रकाश को फैलने नहीं देते' इन बातों को अद्वैती नहीं मानते। इसलिये अविद्या से आत्मा का तिरोहित हो जाने पर आत्मस्वरूप को नष्ट होना मानना ही पड़ेगा।

विशिष्टाद्वैत मत में आत्मा सधर्मक है, आत्मा का धर्मिस्वरूप

सदा अहन्त्व धर्म को लेकर प्रकाशता ही रहता है। यह प्रकाश कभी नहीं रुकता है। आत्मा में अणुत्व आदि अनेकों धर्म हैं जो धर्मभूतज्ञान से ही प्रकाशित होते हैं। जब धर्मभूतज्ञान कर्म से संकुचित हो जाता है, उसका विकास रुक जाता है, उस समय अणुत्व आदि धर्म प्रकाश में नहीं आता है। आत्मा अपने स्वरूप को न समझ कर अज्ञान में फँस जाता है। आत्मा अहन्त्वधर्म को सदा प्रकाशित करता रहता है। अतः अन्यान्य धर्मों का तिरोधान होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता है।

अद्वैतियों ने अविद्या को ऐक्योपदेश एवं श्रुतियों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि—बिना अविद्या के ब्रह्म जीव नहीं बन सकता है। ब्रह्म जीव बना है इससे भी अविद्या प्रमाणित होती है। यह अविद्या ब्रह्मस्वरूप का आच्छादन करती है और विविध भ्रमों को उत्पन्न करती है, इसलिये यह दोष है। यह दोष भी मिथ्या है क्योंकि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है।

श्रीरामानुजाचार्य जी कहते हैं कि यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या मूल दोष नहीं बन सकती है। मूल दोष कोई अन्य ही होना चाहिये। अद्वैतमत में अविद्या मिथ्या है। मिथ्या पदार्थ की सत्ता तब तक रहती है जब तक उसका भान होता रहता है। ब्रह्म अविद्या का दर्शन करे उसी अवस्था में अविद्या सिद्ध होगी। मिथ्याभूत अविद्या का दर्शन ब्रह्म को तभी होगा जब ब्रह्म दोष से आक्रान्त हो। इससे यह मालुम पड़ता है कि अविद्या दर्शन का कारण बननेवाला एक दोष आवश्यक है। इस अवस्था में अविद्या मूल दोष नहीं बन सकती है, और ब्रह्म में दूसरा ऐसा कोई दोष है नहीं जिससे आक्रान्त होकर ब्रह्म अविद्या का दर्शन करे। अन्त में यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म स्वयं अविद्या का दर्शन करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मिथ्यादर्शन का मूल कारण ब्रह्म ही है जब तक ब्रह्म रहेगा; मिथ्यादर्शन होता रहेगा।

इस पर अद्वैतियों ने कहा कि—अविद्या अनादि है इसके लिये दूसरे दोष की आवश्यकता नहीं है। अद्वैतियों का यह कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि ये जोवभेद को भी अनादि मानते हैं। अनादिकाल से ब्रह्म जीवभेद का दर्शन कर रहा है, अतः जीव भेद अनादि है। अनादि जीव भेद का दर्शन ब्रह्म कर रहा है उसका कारण अविद्या दोष है। इससे यह सिद्ध होता है कि किसी अनादि मिथ्या पदार्थ के दर्शन के लिये दोष की आवश्यकता है। अनादि मिथ्या पदार्थ अविद्या का दर्शन ब्रह्म को होता रहता है इसका मूल कारण दोष क्या है। ब्रह्म से व्यतिरिक्त कोई पदार्थ सत्य है नहीं। ऐसी स्थिति में अविद्या दर्शन का मूल कारण ब्रह्म ही है ऐसा मानना पड़ेगा, और ब्रह्मनित्य होने के कारण अविद्या एवं मिथ्याप्रपञ्च का दर्शन सदा करता रहेगा। मोक्ष की सिद्धि होगी ही नहीं। इसलिये अविद्या मूल दोष नहीं हो सकती है।

अद्वैतवादियों ने व्यावहारिक दशा में अविद्या की स्थिति तथा पारमार्थिक दशा में अविद्या की निवृत्ति स्वीकार किया है। श्रीरामानुजाचार्य जी का कहना है कि—अविद्या की निवृत्ति किससे होती है? एवं किस प्रकार होती है? इस प्रश्न के उत्तर में अद्वैतवादियों ने कहा कि—जीव और ब्रह्म में ऐक्य का ज्ञान हो जाने पर अविद्या की निवृत्ति हो जाती है। अनिर्वचनीय का विरुद्ध होना ही अविद्या-निवृत्ति का आकार है। अविद्या सदसद्विलक्षण होने से अनिर्वचनीय कही जाती है। अनिर्वचनीय अविधा की निवृत्ति अनिर्वचनीय नहीं हो सकती है। यदि यह निवृत्ति अनिर्वचनीय होती तो सब अनिर्वचनीयों की निवृत्ति कैसे बन सकती है जब स्वयं अनिर्वचनीय है। इसलिये यह मानना पड़ता है कि अविद्यानिवृत्ति अनिर्वचनीय के विरुद्ध आकारवाली है।

इस पर श्रीरामानुजाचार्य जी ने कहा कि—यदि अविद्यानिवृत्ति निर्वचनीय है तो कहना होगा कि क्या वह सत् है या असत् है

अथवा सदसत् है। अर्थात् अविद्यानिवृत्ति वाधित है या अवाधित है या कुछ अंशों में बाधित है कुछ अंशों में अवाधित है। यदि अविद्या निवृत्ति सत् अर्थात् अवाधित है और ब्रह्मव्यतिरिक्त है तो अद्वैत का भंग होगा, क्योंकि ब्रह्म और अविद्यानिवृत्ति दोनों को अवाधित पदार्थ मानना होगा। यदि ब्रह्म व्यतिरिक्त कोई पदार्थ रहे तो अविद्या भी रहेगी। इस अवस्था में ब्रह्म व्यतिरिक्त अविद्या निवृत्ति जब तक रहेगी, तब तक अविद्या को भी रहना ही पड़ेगा। अविद्या के रहते अविद्यानिवृत्ति होगी कैसे। इस प्रकार ब्रह्म व्यतिरिक्त अविद्या निवृत्ति पक्ष में अविद्यानिवृत्ति होना असंभव है।

यदि यह माना जाय कि अविद्या निवृत्ति अवाधित सत् है एवं वह ब्रह्मस्वरूप है, ब्रह्म व्यतिरिक्त नहीं, तो ब्रह्म वेदान्तज्ञान के पहले से ही विद्यमान है। इसलिये मानना होगा कि अविद्यानिवृत्ति भी वेदान्तज्ञान के पहले से है। यदि अविद्या निवृत्ति ब्रह्म रूप होने के कारण प्रारम्भ से ही विद्यमान हो तो ऐक्यज्ञान से उत्पन्न होने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थिति में "ऐक्य ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है, ऐक्य ज्ञान न होने के कारण संसार बना रहेगा" यह असिद्ध हो जायगा।

यदि अविद्यानिवृत्ति असत् अर्थात् बाधित होगी तो अविद्या का सद्भाव मानना पड़ेगा। यदि अविद्या निवृत्ति को सदसत् अर्थात् कुछ अंशों में वाधित एवं कुछ अंशों में अवाधित माना जाय तो अवाधित अंश को लेकर 'अद्वैतापत्ति' दोषआयगा। बाधित अंश को लेकर अविद्या का सद्भाव मानना होगा, क्योंकि अविद्या-निवृत्ति वाधित होने पर अविद्या का सद्भाव मानना पड़ेगा। इस प्रकार वेदार्थ संग्रह में अद्वैतवाद का पूर्ण रूपेण खण्डन किया गया है।

अद्वैती आचार्यों के साधन मार्ग भी वैष्णवाचार्यों से भिन्न है।

स्वामी शङ्कराचार्य ने ब्रह्म विचार करने के पूर्व अधिकारी को साधन-चतुष्टय सम्पन्न होना स्वीकार किया है—नित्य अनित्य वस्तु का विवेक, लौकिक एवं पारलौकिक विषय भोगों के प्रति वैराग्य, शम दम आदि साधन सम्पत्ति; एवं चौथा मुमुक्षुत्व (मोक्ष की इच्छा।) (ब्र० सू० १।१।) मल विक्षेप आवरण निवृत्ति के लिये क्रमशः निष्काम कर्म, उपासना ज्ञान का विधान है।

परवर्ती विद्वानों में परस्पर कुछ वैमत्य होने पर भी शङ्कराचार्य के मत में केवल ज्ञान से ही मुक्ति का विधान है; किन्तु विशिष्टाद्वैती आचार्यों ने शङ्करमत का खण्डन प्रबल युक्तियों से किया है। वैष्णवाचार्यों का कथन है कि नित्य तथा अनित्य वस्तु का विवेक हो जाने पर ब्रह्म जिज्ञासा की क्या आवश्यकता ? वस्तु विवेकके लिये ही तो जिज्ञासा है। जब विवेक प्राप्त हो गया तब जिज्ञासा नहीं हो सकती। श्रीबलदेवविद्याभूषण ने भी गोविन्दभाष्य में कहा है कि तत्वज्ञ महापुरुषों के संग के पूर्व साधनचतुष्टय लाभ असम्भव है। किन्तु सत्संग के पश्चात् यह साधन सम्पत्ति का लाभ सम्भव है; अतः अद्वैतवादी का साधन चतुष्टय के पश्चात् ब्रह्म विचार का सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है—(ब्र० सू० गोविन्दभाष्य पृ० ६)। विशिष्टाद्वैती आचार्य ने भक्ति प्रपत्ति को ही भगवत् प्राप्ति में अन्तरङ्ग साधन माना है। श्रीरामानुजाचार्य ने ज्ञान-ध्यान-उपासना-आदि शब्दों को एकार्थक माना है, तैलधारा के सदृश निरन्तर स्मृति सन्तति को ही भक्ति स्वीकार किया है—(श्री भाष्य ४।१।१)

अनन्तकल्याणगुणगणनिलय भगवान् की अहैतुकी कृपा अनन्य आश्रितों पर ही होती है। वेदान्तदेशिक स्वामी ने स्पष्ट कहा है कि भगवान् प्रपन्नों के अतिरिक्त अन्य किसी को अपना पद नहीं देते हैं—'प्रपन्नादन्येषां दिशति न मुकुन्दो निजपदम्' (न्यास

विंशति)। प्रपन्न को समस्त नित्य नैमित्तिक कर्मों को भगवत्कैङ्कर्य बुद्धि से करना चाहिये। प्रपन्न के लिये प्राप्य प्रापक अर्थात् साधन साध्य भगवान् हैं। वेदान्तदेशिक स्वामी ने एक ही श्लोक में प्रपत्ति का रहस्य अत्यन्त समीचीन ढंग से वर्णन किया है—

प्रारब्धेतर पूर्वपापमखिलं प्रामादिकं चोत्तरं
न्यासेनक्षपयन्ननभ्युपगतप्रारब्ध खण्डं च नः।
धीपूर्वोत्तर पाप्मनामजननाज्जातेऽपि तन्निष्कृतेः
कौटिल्ये सति शिक्षयाप्यनघयन् क्रोडी करोति प्रभुः।'

सञ्चित-प्रारब्ध-क्रियमाण के भेद से कर्म के तीन भेद हैं—सञ्चित (प्राचीन) कर्म तथा क्रियमाण (भविष्य) कर्म, ज्ञान भक्ति प्रपत्ति आदि से नष्ट होते हैं किन्तु प्रारब्ध का नाश भोग से ही होता है—(ब्रह्म सूत्र ४।१।१३-१९)। प्रारब्ध के भी दो भेद हैं—एक अभ्युपगत दूसरा अनभ्युपगत। इसी शरीर से अनुभव करने योग्य प्रारब्ध को अभ्युगत प्रारब्ध कहते हैं तथा शरीरान्तर से अनुभव के योग्य प्रारब्ध को अनभ्युपगत प्रारब्ध कहते हैं। प्रपन्न का अनभ्युपगत प्रारब्ध भी भगवान् नष्ट कर देते हैं। प्रपन्न बुद्धि पूर्वक पाप नहीं कर सकता है, यदि कथञ्चित् संस्कारवश ऐसा पाप हुआ भी तो उसकी निष्कृति ग्लानि पश्चात्ताप द्वारा प्रपन्न कर लेता है। किन्तु कुटिलता पूर्वक बार-बार अपराध करने पर दण्ड द्वारा शिक्षा देकर भगवान् शुद्ध करके अन्त में प्रपन्न को अपना लेते हैं।

भगवान् श्रीराघवेन्द्र के विभीषण के प्रति अभय सूचक वचन उपर्युक्त कथन में प्रमाण हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥　　(वाल्मी० ६।१८।३४)

अर्थात् एक ही बार प्रपन्न होकर मैं आपका हूँ इस प्रकार जो

याचना करता है उस प्रपन्न को मैं सभी भूतों से अभय कर देता हूँ। रहस्यत्रय में श्रीअग्रस्वामीने 'सर्वभूतेभ्यः' वाक्य में चतुर्थी एवं पञ्चमी दोनों पक्ष स्वीकार किया है। चतुर्थी का अभिप्राय यह है कि केवल विभीषण के ही लिये नहीं किन्तु सभी चेतनों के लिये अभय देता हूँ। तथा पञ्चमीं का अभिप्राय स्वप्राप्ति विरोधी एवं नरक आदि के दुःखों को दूर करने में है। श्रीरामानन्दीय वैष्णवों का यह श्लोक चरम मन्त्र है। यह इतना व्यापक भगवद् वचन है कि श्रीयामुनाचार्य ने आलवन्दारस्तोत्र में भगवान् को इस वचन का स्मरण दिलाया है—

ननु प्रपन्नः सकृदेव नाथ तवाहमस्मीति च याचमानः।
तवानुकम्प्यः स्मरतः प्रतिज्ञां मदेकवर्जं किमिदं व्रतं ते॥

इस प्रकार भक्ति प्रपत्ति से ही भगवान् की प्राप्ति होती है। भगवत्प्राप्ति के पश्चात् केवल भगवदनुभव ही अवशिष्ट रहता है।

अद्वैत मत में आत्मा का ब्रह्म के साथ अभेद हो जाता हैं, किन्तु विशिष्टाद्वैत में जीवात्मा ब्रह्म के समान हो जाता है—'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'—(मु० ३।१।३) अर्थात् पुण्य पाप से मुक्त होकर निर्मल जीव ब्रह्म के साथ परम समता को पाता है। गीता में भगवान् ने कहा कि इस ज्ञान को पाकर जीव मेरे साधर्म्य को प्राप्त करता है—'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः' (१४२)। ब्रह्म के अपहतपाप्मा से सत्यसंकल्प पर्यन्त आठ गुण मुक्त जीव में आ जाते हैं। इस प्रकार दिव्य शरीर धारण कर अष्ट गुणों से युक्त होकर जीवात्मा भगवत्स्वरूप का अनुभव करता है। (श्रीभाष्य ४।४।५-७)

आत्मा स्वराट् एवं अनन्य अधिपति होकर केवल ब्रह्मानुभव का अधिकारी है। जगत् का नियमन ब्रह्म के ही अधीन रहता है। ब्रह्म का असाधारण लक्षण जगत् कर्तृत्व ही है। सर्वत्र ब्रह्म का

लक्षण श्रुतियों में चराचर जगत् का नियमन रूप ही कहा गया है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'—तै० भृ० १। अतः परमात्मा के साथ जीवात्मा का भेद मुक्तावस्था में भी सुस्पष्ट है। द्रष्टव्य— 'जगद् व्यापार वर्जम्' (श्री भाष्य ४।४।१७)।

श्रीरामानुजाचार्य प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त श्रीरामानन्दीय वैष्णवों में भी मान्य है, अतः श्रीरामानन्दीय वैष्णव भी विशिष्टाद्वैतवादी माने जाते हैं। भेद केवल इतना ही है कि श्रीरामानुजीय मत में श्रीलक्ष्मीपति नारायण प्राप्य हैं किन्तु श्रीरामानन्दीय मत में वेदान्तवेद्यतत्व श्रीसीतापति श्रीराम हैं। (द्रष्टव्य-स्वामी हरिदासकृत रामस्तवराज भाष्य)। इसके अतिरिक्त श्रीरामानुजीय मतमें कतिपय आचार्य श्रीतत्व को जीव मानते हैं किन्तु श्रीरामानन्दीय मत में श्रीतत्व को सभी आचार्यों ने ब्रह्मतत्व ही माना है।

इस प्रकार उपासना क्षेत्र में कतिपय भेद होने पर भी सिद्धान्त का भेद प्रायः नहीं है। अतएव भक्तमाल-रचयिता श्रीनाभास्वामी ने श्रीरामान्दाचार्यको श्रीरामानुजाचार्य की पद्धतिका प्रचारक कहा है। भक्तिके विरोधी होने के कारण अद्वैतमत का खण्डन दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से है।

स्वामी श्रीरामानुजाचार्यने अपने भाष्य में भगवान् बोधायन का नाम अत्यन्त आदर से लिया है। विंशति-अध्यायी मीमांसा-दर्शन पर भगवान् श्रीबोधायन की वृत्ति थी। इनका ही दूसरा नाम श्रीपुरुषोत्तमाचार्य था। श्रीराममंत्र की परम्परा में इनका नाम श्रीशुकदेव मुनि के पश्चात् है। श्रीशुक के ये शिष्य थे। स्वामीरामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य की रचना इनकी वृत्ति के आधार पर ही की है—"भगवद्-बोधायन कृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्यास्संक्षिक्षिपुः, तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते"—(श्रीभाष्य पृ० २) अर्थात् भगवान् श्रीबोधायनकृत विस्तृत ब्रह्मसूत्र वृत्ति को पूर्वाचार्यों ने संक्षिप्त किया। उन्हीं (बोधायन) के मतानुसार हम सूत्रों के अक्षरों का व्याख्यान

करेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि दोनों सम्प्रदायों में सिद्धान्तगत भेद नहीं हैं।

श्रीमाध्वाचार्यका द्वैतवाद

ब्रह्मसम्प्रदाय के अन्तर्गत श्रीमाध्वाचार्य हुए। उनका ही दूसरा नाम आनन्दतीर्थ तथा पूर्णप्रज्ञ हुआ। इन्होंने ब्रह्मसूत्र भाष्य एवं अनुव्याख्यान आदि ग्रन्थों में श्रुति-स्मृति-पुराण-पञ्चरात्र आदि प्रमाणों के द्वारा केवल द्वैतवाद का प्रतिपादन किया है।

इनके मत में अनन्त कल्याणगुणगणपरिपूर्ण विष्णु ही भगवान् हैं। भगवान् जीव से तथा जड़वर्ग से सर्वथा विलक्षण हैं। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण बन्ध तथा मोक्ष के कर्ता परमात्मा ही हैं। वे एक होकर भी अनेकों रूप धारण किया करते हैं। भगवान् के सभी अवतार पूर्ण हैं—अवतारादयो विष्णोः सर्वे पूर्णाः प्रकीर्तिताः'—मा० बृ० भाष्य। भगवान् तथा भगवान् के अवतारों में भेदभाव रखना अत्यन्त अनुचित है। भगवान् में अचिन्त्य शक्ति सदा रहती है, अतएव भगवान में विलक्षण-विचित्र कार्य करने का अलौकिक सामर्थ्य विद्यमान रहता है। अचिन्त्य शक्तिके कारण ही भगवान् में विषमगुणों की स्थिति सदा रहती है।

माध्वमत में 'लक्ष्मी तत्त्व' के विषय में अन्य वैष्णव मतों की अपेक्षा कुछ भिन्न धारणा है। लक्ष्मी भगवान् की शक्ति हैं। वे भगवान् के केवल अधीन रहती हैं। अतः उनसे भिन्न हैं—'परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मीः'—म०सि० शा०पृ० २६।

श्रीलक्ष्मीजी भगवान् की अपेक्षा गुणों में कुछ न्यून हैं। जिस प्रकार भगवान् अप्राकृत दिव्य विग्रह संपन्न हैं, उसी प्रकार लक्ष्मी भी अप्राकृत दिव्य शरीर सम्पन्ना हैं। ब्रह्मा आदि अन्य देवतागण देह के नाश होने के कारण 'क्षर' नामवाले हैं; किन्तु नित्य शरीरवाली लक्ष्मी अक्षरा हैं—'लक्ष्मीरक्षर देहत्वात् अक्षरा तत्परो हरिः'—

मध्वकृत ऐतरेय भाष्य। आचार्यने भागवत तात्पर्य निर्णय में भी इसी विषय में समीचीन विचार किया है।

जीव अज्ञान आदि से युक्त प्रधान रूप से तीन प्रकार के होते हैं—मुक्ति के अधिकारी, नित्य संसारी, तमो योग्य। मुक्ति के अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती एवं उत्तम मनुष्य रूप से पाँच प्रकार के होते है। नित्य संसारी जीव अपने कर्मानुसार ऊँच-नीच अनेक गति को प्राप्तकर सुख-दुःख के साथ मिश्रित रहता है। 'भागवत तात्पर्य निर्णय' के अनुसार इस प्रकार का जीव मध्यम मनुष्य कहलाता है। दैत्य राक्षस आदि जीव तमो योग्य माने जाते हैं।

आचार्य के मत में जीव भगवान् से सर्वथा भिन्न है तथा मुक्तावस्था में भी भगवान् के साथ केवल चैतन्यांश को लेकर ही अभेद प्रतिपादन किया जाता है, किन्तु जोव के समस्त गुणों पर विचार करने पर तो भगवान् के साथ आत्मा का भेद सुतरां सिद्ध है। माध्वमत में केवल बद्धावस्था में ही जीवों के परस्पर भेद नहीं होते हैं किंतु मुक्तावस्था में भी जीवों में तारतम्य रहता है—'मानुषादि विरिञ्चान्तं तारतम्यं विमुक्तिगम्'—ईशावास्यभाष्य।

मुक्त होकर जीव जब आनन्द का अनुभव करता है उस आनन्दानुभव में भी परस्पर तारतम्य रहता है। माध्वमत में शुद्धसत्व का लीलामय विग्रह जीवों के लिये माना गया है। जीव को पञ्चभेद ज्ञान का सम्पादन करना आवश्यक है-१-भगवान् का जीव से भेद, २—भगवान् का जड़ से भेद, ३—जीव का जड़ से भेद, ४—जीव का दूसरे जीव से भेद, ५—एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़पदार्थ से भेद—(सर्व दर्शन संग्रह पृ० ५४)। यही पञ्चभेद का ज्ञान मुक्ति का साधन है। जीव समूह श्रीहरि का नित्य अनुचर है, अस्वतन्त्र है। प्रपञ्च सत्य तथा अनादि सिद्ध है। जीव और जगत् दोनों भगवान् के अधीन हैं, इन दोनों से भगवान् पृथक् स्वतन्त्र हैं। माध्वमत

में प्रलयकाल में भी रात्रि में वन में लीन विहंग की भाँति नित्य भेद रहता है। भगवान् की अहैतुकी कृपा के विना परतन्त्र जीव साधारण कार्यों का भी सम्पादन नहीं कर सकता है, मुक्ति की कथा तो दूर रही। अतः लोक-परलोक दोनों की प्राप्ति भगवान् के अधीन है।

इनके मत में सायुज्य मुक्ति सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है जो कि भगवान् में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनन्द भोग करना है। भक्ति के विरोधी होने के कारण शङ्करमत का खण्डन इन्होंने भी प्रवल युक्तियों से किया है।

श्रीनिम्बार्क तथा द्वैताद्वैतवाद

श्रीनिम्बार्क मत में चित्-अचित्-ब्रह्म भेद से तत्व तीन प्रकार के हैं। चित् अचित् ब्रह्म से भिन्न होने पर भी अभिन्न हैं। आचार्य के मत में ईश्वर समस्त प्राकृत दोषों से रहित एवं अशेष कल्याण गुणों का निधान है—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ॥

(दशश्लोकी ४।)

चराचर विश्व ईश्वर के अधीन है। जो भी कुछ इस जगत् में दृष्टिगोचर अथवा श्रुतिगोचर है भगवान् सब के भीतर विद्यमान हैं। इनके मत में भगवान् वासुदेव पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। जीव ईश्वर के सदा नियम्य है, अणु एवं नाना है और भगवान् का अंश है।

इसी के आधार पर भेदाभेद सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। निम्बार्काचार्य ने 'वेदान्त पारिजात सौरभ' में इस विषय पर विषद विवेचन किया है। यह जीव भगवान् का अंश है। अंश का अर्थ खण्ड नहीं है, किन्तु 'अंशो हि शक्तिरूपोग्राह्यः' अंश का अर्थ है

शक्ति। भगवान् शक्तिमान् हैं जोव शक्ति है। जीव स्वरूप से भिन्न होकर भी ईश्वराधीन प्रवृत्ति निमित्त होने से अभिन्न भो है। केवल भेद स्वीकार करने पर 'तत्वमसि' आदि अभेद श्रुतियों का समन्वय नहीं होता तथा केवल अभेद मानने पर 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्' इत्यादि भेद श्रुतियों का समन्वय नहीं होगा।

अतः भेद-अभेद श्रुतियों के समन्वय के लिये भेदाभेद सिद्धान्त स्वोकार करना युक्तियुक्त है (ब्र० सू० २।३।४२)। भगवान् की शरणागति स्वीकार करने पर ही जीवों पर भगवान की कृपा होती है। भगवत् कृपा से अनुराग स्वरूपा भक्ति उत्पन्न होती है, तब जीव भगवान् का साक्षात्कार करता है। मुक्त होने पर जीव अपहतपाप्मा आदि विशेषणों से युक्त होकर अपने स्वरूप से ही विद्यमान रहता है—(वेदान्त पारिजात सौरभ ४।४।७)। मुक्तावस्था में भी उपासना का प्रतिपादन 'शान्त उपासोत' ,मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासींत' इत्यादि श्रुतियाँ करती हैं, अतः मुक्तावस्था में भा जोव का कर्तृत्व अक्षुण्ण रहता है-(ब्रह्मसूत्र २।३।३२ पर वे० पा० सौ०)

आचार्य ने 'दशश्लोकी' में अचित् तत्व का तीन संज्ञायें दी हैं— प्राकृत, अप्राकृत, काल। पाञ्चभौतिक जगत् को प्राकृत कहते हैं, प्रकृति के सम्बन्ध से रहित भगवद् धाम को अप्राकृत कहते हैं। तथा जगत् के नियामक काल को भो अचेतन ही स्वीकार किया है। यद्यपि काल जगत् का नियामक है किन्तु भगवान् के लिये नियम्य ही है। नित्य अनित्य भेद से काल दो प्रकार के होते हैं। स्वरूप से नित्य तथा कार्य से अनित्य —

'अप्राकृतं प्राकृतरूपकञ्च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्—

(दशश्लोकी ३)।

ब्रह्मसूत्र पर निम्बार्काचार्य का भाष्य तो अत्यन्त स्वल्प है किन्तु

श्रीनिवासाचार्य का भाष्य 'वेदान्त कौस्तुभ' पारिजात सौरभ के गूढ़ रहस्यों का विस्तारक है। श्रीनिम्बार्क का मत भेदाभेद होने पर भी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से बहुत अंशों में प्रायः अभिन्न है।

श्रीवल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैतवाद

स्वामी श्रीवल्लभाचार्य ने अपने अणुभाष्य में प्रबल प्रमाणों से शुद्धाद्वैत की स्थापना की है। महाराज विजयनगराध्यक्ष श्री कृष्ण-राय के दरबार में अद्वैतियों को परास्त कर उन्होंने अपने अलौकिक पाण्डित्य का समीचीन परिचय दिया था। श्रीवल्लभाचार्य श्री-चैतन्य के समकालीन थे। इनके मत में ब्रह्म निर्गुण होता हुआ भी सगुण है, निराकार होता हुआ भी साकार है। भगवान् सच्चिदानन्द सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् हैं। अद्वैत मत के अनुसार निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही माया के सम्पर्क से सविशेष प्रतीत होता है। ईश्वर जीव दोनों अविद्यायुक्त हैं, इत्यादि।

इस प्रकार अद्वैतवादियों का यह कथन वल्लभाचार्य नहीं स्वीकार करते हैं। माध्व मतानुसार इनके मत में भी परब्रह्म अचिन्त्य महिमा मंडित होने के कारण परस्पर विरोधी गुणों से युक्त है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' श्रुति भगवान् को अणु से भी लघु एवं महत्पदार्थ से भी महत्तर बतलाती है। 'व्रीहेर्वा यवाद्वा श्यामकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा'—धान, यव, शामा आदि से लघु कहकर 'पृथिव्याः ज्यायान् अन्तरिक्षाज्ज्यायान् आकाशाज्ज्यायान् एभ्यः सर्वेभ्यो लोकेभ्योज्यायान्'—अर्थात् समस्त लोकों से बड़ा श्रुति बतलाती है। इनके मत में जीव भगवान् का अंश अलक्षित रहता है। मुक्त होने पर आनन्द अंश होने पर भी अभिन्न है। सत्-चित्-आनन्दरूप ब्रह्म के सत् अंश से प्रकृति-जड़तत्व की अभिव्यक्ति तथा चिद् अंश से जीव तत्त्व की अभिव्यक्ति है। जीव में ब्रह्म से निर्गमन काल में आनन्द अंश

अलक्षित रहता है। मुक्त होने पर आनन्द अंश प्रकट हो जाता है, अभेद है।

आचार्य के मत में जगत् भी भगवान् के सत् अंश से निकलने के कारण विकारी नहीं है, किन्तु ब्रह्म जीव के सदृश ही नित्य अविकृत तत्त्व है। वैष्णव दर्शनों में श्रीवल्लभाचार्य की यह कल्पना स्वतंत्र है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार ही जीव को ये अणु मानते हैं किंतु जगत् को हेय नहीं मानते। क्षर, अक्षर पुरुषोत्तम को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ तो मानते हैं किन्तु क्षर को भी भगवान् के सद् अंश होने के कारण शुद्ध नित्य मानते हैं। इसीलिये इनका मत 'शुद्ध अद्वैत' है अर्थात् जगत्, जीव एवं ब्रह्म तीनों शुद्ध तत्त्वों का अभेद ही शुद्धाद्वैत है। आचार्य ने श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी की टीका में अपने सिद्धान्त के समस्त पदार्थों का विशद विवेचन किया है। श्रीवल्लभानुयायी वैष्णवगण में 'सुबोधिनी' की महती प्रतिष्ठा है। अणुभाष्य से भी सुबोधिनी का अधिक गौरव है। आचार्य के मत में मर्यादा भक्ति की अपेक्षा पुष्टि भक्ति का अवलम्बन ही श्रेष्ठ माना गया है। मर्यादा भक्ति में ज्ञान की अपेक्षा होती है किन्तु पुष्टि भक्ति में ज्ञान की एवं वर्ण जाति आदि की अपेक्षा नहीं होती है। अनुग्रह को पुष्टि कहते हैं—'पोषणं तदनुग्रह :' सुबोधिनी २।१०। इनके मत में ज्ञान से अक्षर ब्रह्म (जीवात्मा) की प्राप्ति होती है किन्तु भगवान् की प्राप्ति तो अनन्य भक्ति से ही सम्भव है। अत्यन्त सरल पुष्टि मार्ग के आश्रयण द्वारा आनन्द सिन्धु भगवान् के अधरामृत का पान करना ही जीव का चरम फल है।

भगवान् का अवतार केवल परमानन्द देने के लिये ही होता है, भूभार का हरण तो विना अवतार के भी सम्भव था—सुबोधिनी १०।२९।१४। जीव में आनन्द का तिरोभाव है किन्तु भगवान् में एकरस अखंड आनन्द है, अतः भगवान् में आनन्द है या नहीं

अथवा भगवान् कौन हैं?' यह शंका भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'भगवान् के अवतार-चरित्र मात्र के श्रवण करने पर भी ऐसा आनन्द होता है जिससे विचारक अवतार कथा प्रेमीगण कभी-कभी परमानन्द प्रदाता मोक्ष को भीं नही चाहते हैं यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

एक और भी प्रमाण यह है कि कुछ लोग भगवत्-कथा श्रवण कर घर बार छोड़ देते है। सभी संसारी यह जानते हैं कि घर में लौकिक सुख को प्रचुरता है; अतः ऐसे गृह में विद्यमान सुख का परित्याग सत्संगी छोड़ देते हैं। यदि भगवान् में तनिक भी आनन्द का सन्देह होता तो कोई भी संसारी पुरुष घर का विद्यमान सुख क्यों छोड़ता? अतः भगवान् में आनन्द का सन्देह नहीं करना चाहिये।—सुबोधिनी वेदस्तुति श्लोक ८।

इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्य का विशुद्धाद्वैत शङ्कर के अद्वैत से सर्वथा भिन्न हैं। आचार्य के ग्रन्थों में शङ्कर मत का खंडन सर्वत्र उपलब्ध होता है।

श्रीचैतन्य दर्शन

प्रेमावतार श्रीचैतन्य महाप्रभु का अवतार चेतनों को प्रेमदान के लिये हुआ था। अतः महाप्रभु ने स्वयं किसी भी ग्रन्थ की रचना नहीं की। उनके मत से केवल भगवन्नाम एवं भगवद् भक्ति द्वारा मानव भगवत् प्रेम को पा सकता है। नाम संकीर्तन करनेवाले अपने को तृण से भी नीच वृक्ष से भी सहनशील, सभी का सम्मान करनेवाले एवं अपने आपको अमानी समझें—'तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः'। महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत को ही अपना सिद्धान्त ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया। किन्तु महाप्रभु के पश्चात् उनके अनुयायी जीवगोस्वामी प्रभृतियों ने चैतन्यमत के आधार पर अचिन्त्यभेदाभेदवाद की

स्थापना की। भगवान् में मूर्तत्व अमूर्तत्त्व, परिच्छिन्नत्व-विभुत्व, आदि परस्पर विरोधी भाव एक साथ ही निवास करते हैं, यह भगवान् की अद्भुत अचिन्त्य शक्ति का प्रभाव है। भगवत्तत्त्व अचिन्त्य-शक्ति-सम्पन्न होने के कारण अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्त इस मत में सुसंगत है—'स्वमते त्वचिन्त्य भेदाभेदावेव, अचिन्त्य शक्तिमयत्वात्'—श्री जीव गो० सर्वसंवादिनी।

श्री सनातन गोस्वामी ने बृहद् भागवतामृत में इस सिद्धान्त का समीचीन विवेचन किया है—जिस प्रकार समुद्र के एक देश में उठी हुई तरङ्गें एक देश में विलीन हो जाती है। जलमय गुण के द्वारा समुद्र से अभिन्न होने पर भी गाम्भीर्य, रत्नाकरत्व आदि समुद्र के विशेष गुणों के अभाव के कारण तरङ्ग समूह समुद्र से भिन्न भी है। उसी प्रकार चिदंश जीव अनन्त सच्चिदानन्द परब्रह्म से चिदंश में अभिन्न होने पर भी अनन्त अचिन्त्य कल्याण गुणों के अंश में भिन्न भी है। मुक्तावस्था में भी ब्रह्म के साथ जीव का चिदंश के योग से अभेद, तथा परिच्छिन्न होने के कारण भेद सुसंगत है—बृहद भागवतामृत।

अचिन्त्य भाव विशिष्ट भगवान् की अनन्त शक्तियों में तीन ही शक्तियाँ मुख्य हैं—१ स्वरूप शक्ति, २ तटस्थ शक्ति, ३ माया शक्ति। स्वरूप शक्ति को चित् शक्ति तथा अंतरङ्गा शक्ति भी कहते हैं, क्योंकि यह भगवत् स्वरूपा है, भगवान् के धाम आदि अंतरङ्गा शक्ति की ही वृत्ति है; जिसको त्रिपादविभूति कहते हैं। जीव शक्ति को तटस्थ शक्ति कहते हैं—

तट जिस प्रकार नदी के भीतर नहीं होता है, तथा तीर भूमि के भीतर नहीं होता है, उसी प्रकार जीव स्वरूप शक्ति भी नहीं है तथा मायाशक्ति भी नहीं है किन्तु तटस्थ शक्ति है।

माया शक्ति को बहिरङ्गा शक्ति भी कहते हैं। इसी के द्वारा

जगत् का निर्माण होता है। अथवा भगवान् स्वरूप शक्ति से जगत के निमित्त कारण तथा माया जीव शक्तियों से उपादान कारण हैं—

चिच्छक्ति स्वरूप शक्ति अन्तरङ्गा—नाम।
ताहार वैभव अनन्त वैकुण्ठादि धाम॥
माया शक्ति वहिरङ्गा जगत् कारण।
ताहार वैभव अन्यत ब्रह्माण्डेर गण॥
जीव शक्ति तटस्थाख्य नाहिं जार अन्त।
मुख्य तीन शक्ति तार विभेद अनन्त॥

—श्रीचैतन्य चरितामृत।

चैतन्य मत में यह शक्तित्रय की कल्पना विष्णु पुराण के निम्न श्लोक के आधार पर है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।
अविद्या कर्म संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती ने इस सिद्धान्त की पुष्टि 'गीता (७।४—७।) की टीका 'सारार्थ दर्शिनी' में भी की है। इनके मत में कार्य-कारण, शक्ति-शक्तिमान का अभेद ग्राह्य है। श्रीजीवगोस्वामी ने भी भगवत्सन्दर्भ की 'सर्व संवादिनी; टीका में भेदाभेद का समर्थन इस प्रकार किया है—

स्वरूप से अभिन्नरूप में शक्ति का चिन्तन नहीं किया जा सकता है। अतः भेद प्रतीत होता है। तथा भिन्न रूप से चिन्तन न होने के कारण अभेद भी है; इसलिए शक्तिशक्तिमान् का भेदाभेद ही सिद्ध होता है, ये दोनों ही अचिन्त्यशक्तिमय होने के कारण अचिन्त्य हैं। अतः स्वमत में अचिन्त्य भेदाभेद ही ग्राह्य है— 'स्वरूपादभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वात् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्त-

यितुमशक्यत्वादभेदश्च प्रतीयते इति शक्ति-शक्तिमतोर्भेदाभेदावेवाङ्गी कृतौ, तौ च अचिन्त्यौ इति स्वमते त्वचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्य शक्तिमयत्वादिति।'

चैतन्यमत के अनुसार जगत् सत्य वस्तु है; क्योंकि सत्य संकल्प भगवान् की बहिरङ्गा शक्ति का विलास है। श्रुति-स्मृति एक स्वर से जगत् का नित्यत्व घोषित कर रही हैं—"याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।' ईशावास्य मं० ८। 'प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि'—गीता १३।१९। जीव श्रीहरि का नित्यदास है, यह जीव तटस्थ शक्तिरूप भेदा-भेद प्रकाश विशिष्ट है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश। (चै०च०)

जीव अपने निज स्वामी को भूलकर अनादिकाल से बहिर्मुख होकर माया के द्वारा संसार के सुख-दुःखों को भोग रहा है। भगवत् रसिक सन्तों, एवं सत् शास्त्रों की कृपा से जब श्रीकृष्ण के उन्मुख होता है तब माया छूट जाती है और जीव अपने दास्य-स्वरूप को प्राप्तकर अपने निज स्वामी को प्राप्तकर लेता है—'कृष्ण भूलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख। अतएव माया तारे देय संसार दुःख। साधु-शास्त्र कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय। सेइ जीव निस्तरे माया ताहारे छाडय।' (च० च०)

चैतन्यमत में भगवान् को अपने वश में करने का एकमात्र साधन भक्ति ही है। अन्य अभिलाषाओं से शून्य, ज्ञान-कर्म रूप आवरण से रहित, दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुर रस में किसी एक भाव से श्रीकृष्ण का अनुशीलन भक्ति है—अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।' (भ० र० सि० १।११)। नारदपञ्चरात्र में भी इसी प्रकार भक्ति का स्वरूप

कहा गया है--

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेश्च हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

दुर्गम सङ्गमनी टीकाकार श्रीजीवगोस्वामी ने कहा है कि 'ज्ञान कर्माद्यनावृतम्' में ज्ञान से अभेद ब्रह्म का अनुसंधान रूप ज्ञान ही भक्ति का आवरक (विरोधी) है। भजनीय स्वरूप भगवत्तत्त्व का अनुसंधान रूप ज्ञान भक्ति-विरोधी नहीं है। इसी प्रकार कर्म से केवल नित्य-नैमित्तिक कर्म ही भक्ति का आवरक (विरोधी) है। भगवान् की सेवा पूजा रूप कर्म भक्ति विरोधी नहीं है।

ज्ञानमत्र निर्भेद ब्रह्मानुसन्धानं नतु भजनीयत्वानुसन्धानमपि तस्यावश्यापेक्षणीयत्वात् । कर्म स्मृत्याद्युक्तं नित्य-नैमित्तिकादि नतु भजनीयपरिचर्यादि तस्यतदनुशीलनरूपत्वात् । आदि शब्देन वैराग्य-योग-सांख्याभ्यासादयः । दुर्गमसङ्गमनी १।११

सत्-चित् आनन्द के कारण भगवान् की स्वरूप शक्ति एक होने पर भी तीन भागों में विभक्त होती है--१ सन्धिनी २ संवित् ३ ह्लादिनी। सन्धिनी शक्ति द्वारा भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं और दूसरों को सत्ता प्रदान भी करते हैं। संवित् शक्ति द्वारा स्वयं जानते हैं और दूसरों को ज्ञान प्रदान करते हैं और अन्य को भी आनन्द प्रदान करते हैं। श्रीराधिकाजी ह्लादिनी की मूर्ति हैं। क्योंकि ह्लादिनी का सार प्रेम है तथा प्रेम का सार मादनाख्य महाभाव स्वरूपिणी हैं। चैतन्यमत में भक्तितत्व भी ह्लादिनी शक्ति ही है अर्थात् भगवान् की स्वरूप-शक्ति है, तभी सर्वसमर्थ भगवान् को भी अपने बश में कर लेती है—'भगवत्प्रीतिरूपा वृत्ति-र्मायादिमयी न भवति' किन्तर्हि स्वरूपशक्त्यानन्दरूपा, यदानन्दपरा-धीनः श्रीभगवानपीति'-श्रीजीव गोस्वामी कृत प्रीतिसन्दर्भ पृ० ७८४।

अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में तीन अत्यन्त क्षुद्र होने से विवेकी के लिये ग्राह्य नहीं है, चतुर्थ मोक्ष रूप पुरुषार्थ अक्षय आनन्दप्रद है; किन्तु वह आनन्द केवल सत्तामात्र है, प्रतिक्षण नवनवायमान आस्वादन वैचित्री उसमें नहीं है, क्योंकि अव्यक्त शक्तिसम्पन्न ब्रह्म में स्वरूप शक्ति का विलास न होने के कारण उसमें रसवैचित्री नहीं है। जहाँ शक्ति का न्यूनतम विकास है वहाँ रस का भी न्यूनतम ही विकास है। श्रीकृष्ण में शक्ति का असमोर्ध्व विकास होने से रसवैचित्री का भी पूर्ण विकास है। ब्रह्मानन्द से कोटि-कोटि गुण अधिक आनन्द भगवत्-माधुर्य आस्वादन में है। इसीलिये आत्माराम जीवन्मुक्त ब्रह्मानन्द में निमग्न महामुनि भी भगवत-माधुर्य की कथा सुनते ही उनके उस माधुर्य आस्वादन के लिये लालायित होकर प्रेम-प्राप्ति के लिये भगवत्-भजन करते हैं, यथा—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ (श्रीमद्भागवत १।७।१०)

स्वामी शङ्कराचार्य ने भी नृसिहतापनी भाष्य में कहा है कि मुक्त लोग भी स्वेच्छा से शरीर धारण करके भगवान् का भजन करते हैं—'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते'— (शङ्करभाष्य २।५।१६)। जिस प्रकार पित्त नाश के लिये पित्तग्रस्त मनुष्य मिश्री का सेवन करता है किन्तु पित्त का नाश हो जाने पर भी मिश्री की मधुरिमा से आकृष्ट होकर मिश्री भक्षण करता ही रहता है, उसी प्रकार अविद्या निवृत्ति के पश्चात् मुक्त हो जाने पर भी भगवत्-माधुर्य से आकृष्ट होकर मुक्त लोग भगवद्भजन करते रहते हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्मानन्द से प्रेमरस अनन्तगुण श्रेष्ठ है। श्रीरूपगोस्वामी ने कहा है कि ब्रह्मा की आयु से पचास वर्ष पर्यन्त

किसी ने समाधि में ब्रह्मानन्द का अनुभव किया हो किन्तु भक्ति सुख समुद्र के लघुतम परमाणु के बराबर भी—वह पुञ्जीभूत ब्रह्मानन्द कथमपि तुलनीय नहीं हो सकता—ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्द्धगुणीकृतः। नैतिभक्ति सुखाम्भोधेः परमाणु तुलामपि'—(हरिभक्ति र० सि० १।१९)।

अतः यह भक्ति पञ्चम पुरुषार्थ है जो मोक्ष से भी अत्यधिक श्रेष्ठ है, चैतन्य चरितामृत में प्रेम को पञ्चम पुरुषार्थ कहा है तथा श्रीकृष्ण माधुर्य रसास्वादन में एकमात्र उपाय प्रेम को ही कहा गया है—'पञ्चम पुरुषार्थ सेई प्रेम महाधन। कृष्णेर माधर्यरस कराय आस्वादन' (चै० च०)।

भक्ति दो प्रकार की है—एक साधना भक्ति, दूसरी सिद्धा भक्ति। श्रीमद्भागवत में भी 'भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्' में साधनाभक्ति स सिद्धाभक्ति की प्राप्ति कहीं गई है। साधनाभक्ति में शास्त्रीय उपायों का आश्रयण कुछ काल तक आवश्यक है किन्तु रागात्मिका में समस्त शास्त्रीय बंधन शिथिल हो जाते हैं।

चैतन्यमत में अन्तःकरण की शुद्धि के लिये भी नवधा भक्ति का सेवन ही उपादेय है। आरम्भ में कर्ममिश्रा ज्ञानमिश्रा भक्ति का सेवन करनेवाले भी अन्त में केवला भक्ति के अधिकारी हो जाते हैं। कर्मांश तथा ज्ञानांश आगे चलकर क्षीण हो जाते हैं, स्वरूपशक्ति होने से भक्ति की वृद्धि होतो है क्षीण नहीं होती है। इनके मत में मधुरा रति ही अन्तिम साध्य तत्त्व है। भगवत्प्रेम प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम भूमिका श्रद्धा के बाद साधु सङ्ग है, सन्तों के सङ्ग से भजन-क्रिया चलने लगती है—नवधा का सेवन होता है तब काम-क्रोध आदि अनर्थों की निवृत्ति होती है। पश्चात् क्रमशः निष्ठा, रुचि, आसक्ति, एवं भाव की प्राप्ति होती है। साधकों के लिये प्रेमप्राप्ति में यही पूर्वोक्त क्रम है —

"आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया ।
ततोऽनर्थनिवृत्तिःस्यात्ततोनिष्ठा रुचिस्ततः ।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति ।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ।

(हरिभक्तिरसामृत सिंधु ४।६–७)

भजन द्वारा जब साधक के हृदय में भगवत्प्रेम का अंकुर उत्पन्न होता है तब अनेकों दिव्यगुण उत्पन्न हो जाते हैं। क्षमा, भजन-चिन्तन के बिना व्यर्थ काल नहीं बिताना, वैराग्य, मानशून्यता, भगवत् प्राप्ति की दृढ़ आशा, भगवत्-मिलन की तीव्र उत्कंठा, श्रीनाम-गान में सदा रुचि, गुण-कथन में आसक्ति, एवं भगवद्धाम में रति आदि सद्गुण साधक में आ जाते हैं—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता ।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदारुचिः ।
आसक्तिस्तद् गुणाख्याने रतिस्तद् वसतिस्थले ।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने ॥

(हरिभक्ति० र० सि० ३।१२–१३)

भगवत्-प्रेम की भी अनेक भूमिकायें हैं। भक्ति का स्थायीभाव 'रति' है। जब मधुर रसानुकूल यह रति होती है तब इसका नाम 'मधुरारति' होता है। साधारणी, समञ्जसा, समर्था के भेद से 'रति' तीन प्रकार की होती है।

नाति सान्द्रा हरेः प्रायः साक्षाद्दर्शन सम्भवा ।
सम्भोगेच्छा निदानेयं रतिः साधारणी मता ॥

(उ० नी० म० स्थायी० भा० ३९)

अर्थात् जो रति अतिशय गाढ़ नहीं हो, जो प्रायः श्रीकृष्णदर्शन

से ही उत्पन्न हो, एवं सम्भोगेच्छा ही जिसका हेतु हो उसको 'साधारणी रति' कहते हैं। यद्यपि स्वसुख वासना से रहित श्रीकृष्ण-सुख-वासना को ही रति कहते हैं किन्तु साधारणी रति में स्वसुख वासना के साथ श्रीकृष्ण-सुखवासना भी विद्यमान है। स्वसुख वासना अत्यन्त क्षीण होने पर श्रीकृष्ण सुख वासना भी क्षीण हो जाती है। यह रति कुब्जा आदि में रहती है।

पत्नीभावाभिमानात्मा गुणादि श्रवणादिजा।
क्वचिद्भेदित संभोग तृष्णा सन्द्रा समञ्जसा॥
(उ० नी० म० स्था० भा० ॥४२॥)

जो रति श्रीकृष्ण के गुण आदि श्रवण से उत्पन्न हो, जिसमें पत्नी-भाव का अभिमान हो, जिसमें कभी कभी संभोग तृष्णा भी उत्पन्न हो। उस गाढ़ रति को 'समञ्जसा-रति' कहते हैं। यह रति महिषी वृन्द में पाई जाती है।

कञ्चिद्विशेषमायान्त्या संभोगेच्छा ययाभितः।
रत्या तादात्म्यमापन्ना सा सामर्थ्येति भण्यते॥ (स्था० भा० ॥४६॥)

पूर्वोक्त दो रतियों की अपेक्षा अनिर्वचनीय, श्रवणादि के विना उत्पन्न श्रीकृष्ण संभोगेच्छा प्रधान, समस्त कुल, धर्म, धैर्य्य, लोक, लज्जा आदि को विस्मरण कराने में सर्व समर्थ रति को 'समर्था-रति' कहते हैं। यह समर्थारति व्रजाङ्गनाओं में ही पाई जाती है।

यही 'रति' जब महाभाव दशा को प्राप्त होती है तब इसकी कामना मुक्त एवं श्रेष्ठ भक्तगण भी करते रहते हैं—

इयमेव रति प्रौढ़ा महाभावदशां व्रजेत्।
या मृग्या स्याद् विमुक्तानां भक्तानाञ्च वरीयसाम्॥ (उ नी.म. ४१)

जिस प्रकार ऊख का बीज ही क्रमशः ऊख, रस, गुड़, खाँड़, चीनी, मिश्री एवं ओलाकन्द पर्यन्त परिपाक एवं विकास भेद से

अवस्थान्तर को प्राप्त होता है, उसी प्रकार यह 'रति' क्रमशः परिपाक भेद से प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भावपर्यन्त अवस्थाओं को प्राप्त होती है—

स्याद्दृढेयं रतिः प्रेमा प्रोद्यन्स्नेहः क्रमादयम् ।
स्यान्मानः प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि ॥
बीजमिक्षुः स च रसः स गुडः खण्ड एव सः ।
स शर्करा सिता सा च सा यथा स्यात्सितोपला ॥

(उ० नी० म० ५३–५४)

इस प्रकार महाभाव के भी अनेक रसभेद हैं। रूढ़, अधिरूढ़, मोदन। मोदनभाव वियोग अवस्था में मोहन कहा जाता है। अन्त में समस्त रस-स्तरों का एकमात्र आश्रय मादन है। मादनाख्य महाभाव स्थायी 'रति' की सीमा है। यह एकरस श्रीराधिकाजी में ही विद्यमान रहता है।

इस प्रकार अचिन्त्य भेदाभेदवाद माध्वमत से कुछ अंशों में अभिन्न होने पर भी स्वतंत्र एवं सर्वांश में भिन्न है। श्रीचैतन्य के परवर्ती आचार्यों ने जो भक्तितत्त्व एवं रसतत्त्व का वर्णन किया है, वह अत्यन्त ही पाण्डित्यपूर्ण है। रस-स्तरों की कल्पना इस मत में अपना विशेष स्थान रखता है।

समन्वय

तत्तुसमन्वयात् ब्र० सू० १।१।४

इस वेदान्त सूत्र के अनुसार समस्त वेदान्त वाक्यों का पुरुषार्थ रूप से ब्रह्म में ही यथार्थ अन्वय है। भारतीय दर्शन की उदारता ने विश्व के समस्त विचारकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। विश्व के सभी मनीषीगण अपनी-अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने के लिये भारतीय दर्शन का आश्रयण सदा से करते आये हैं।

पाश्चात्य विचारधारा के लोगों की यह धारणा नितांत भ्रमपूर्ण है कि भारतीय-दर्शन शास्त्रों में अनेकता है, तथा साम्प्रदायिकता है। निष्पक्ष भाव से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि दर्शन शास्त्रों की व्यापकता ने सभी विचारकों को विचार करने का अवसर दिया। अपनी अपनी दृष्टि से अपेक्षित सामग्रियाँ सभी विचारकों को मिली है।

परमत खण्डनपूर्वक स्वमत की स्थापना केवल स्वसिद्धांत की अभिव्यक्ति के लिये ही है। ब्रह्मसूत्र में भी ऐसे विचार मिलते हैं जिससे परपक्ष का खण्डन प्रतीत होता है। चतुःसूत्री के बाद जहाँ से वेदान्त शास्त्र का प्रारम्भ माना जाता है वहाँ सर्वप्रथम सूत्र से सांख्यमत का खण्डन स्पष्ट है—'इक्षतेर्नाशब्दम्' (१।१।५) अर्थात् जगत् का कारण प्रकृति नहीं हो सकती है, क्योंकि कारण में ई.ण (इच्छा) करना सिद्ध है। 'तदैक्षत बहुस्याम्' इस श्रुति में कारण ने बहुत होने की इच्छा की। अतः इच्छा करना चेतन का धर्म है जड़ का नहीं। प्रकृति जड़ है अतः जगत्कारण नहीं हो सकती है। जगत् कारण कोई चेतन होगा, इत्यादि समस्त अधिकरण में ब्रह्म के जगत्कारणत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार मूल सूत्रों द्वारा अनेकों वेदान्त-विरुद्ध सिद्धान्तों का खण्डन ब्रह्मसूत्र में वेद-व्यास ने किया है। किन्तु समन्वय की दृष्टि से अपेक्षित अंश सबसे ग्रहण करना ही वेदान्त का तात्पर्य है। सांख्य की तत्त्व विवेचन-शैली नितान्त मनोरम है, अतः सभी दार्शनिकों ने इतने अंश को उपादेय माना है।

इसी प्रकार अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैतमत में भी पर्याप्त खण्डन-मण्डन उपलब्ध होते हैं। जिस प्रकार बौद्धमत का खंडन कर स्वामी शङ्कराचार्य ने स्वमत की स्थापना की। शङ्करमत के विरोधी भी आचार्य शङ्कर के बौद्धमत खण्डन का आदर करते हैं। उसी प्रकार समस्त वैष्णव दार्शनिकों ने अद्वैतमत के खंडन में श्रीरामानुजाचार्य

का आभार स्वीकार किया है। भक्ति के विरोधी होने के कारण अद्वैतमत का खंडन सभी वैष्णव दार्शनिकों ने समान रूप से किया है।

पूर्वोक्त महापुरुषों में ऐसे एक भी नहीं हैं जिनको भ्रान्त कहा जा सकता है। अतः श्रुति भगवती ने जिनको जिस प्रकार अर्थ प्रदान किया, उसी प्रकार अपने अपने विचार सबने व्यक्त किये। आचार्य पुष्पदन्त ने कहा है—

'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥'

अर्थात् जिस प्रकार सीधे टेढ़े मार्ग से बहनेवाली नदियों का आश्रय अंत में समुद्र ही होता है। उसी प्रकार अपनी-अपनी रुचि की विचित्रता से सरल कुटिल मार्गानुयायी मानवों के किये अंत में आप (परमात्मा) ही आश्रय हैं। अविद्या की निवृत्ति तथा परमानंद की प्राप्ति ही मानवमात्र का मुख्य लक्ष्य है। अपने-अपने अधिकार के अनुसार किसी एक मार्ग को अपनाकर मानव को अपने कल्याण के साधन में प्रवृत्त होना चाहिये। श्रीमद्भागवत एकादश में स्पष्टरूप से भगवान् ने त्रिविध अधिकारियों के लिये क्रमशः कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग का अवलम्बन बतलाया है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्चनोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्ण चित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

श्रीमद्भागवत ११।२०।६—८।

भगवान् ने उद्धव से कहा—मैंने ही वेदों में मानवों का कल्याण करने के लिये अधिकारी-भेद से तीन प्रकार के योगों का उपदेश किया है। वे हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति। कल्याण के लिये और कोई उपाय कहीं नहीं है। जो लोग कर्मों तथा उनके फलों से विरक्त हो गये हैं और उनका त्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोग के अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनके चित्त में कर्मों एवं फलों से वैराग्य नहीं हुआ है, वे सकाम मनुष्य कर्मयोग के अधिकारी हैं।

जो पुरुष न तो अत्यंत विरक्त है और न अत्यंत आसक्त ही है। तथा किसी पूर्वजन्म के पुण्योदय से सौभाग्यवश मेरी लीला-कथा में एवं नवधा आदि भक्ति में उसकी श्रद्धा हो गई है, वह भक्तियोग का अधिकारी है। उन्हें भक्तियोग के द्वारा ही परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार अधिकारी के भेद से साधना में भेद प्रतीत होता है; किन्तु साध्य परमानन्द में भेद नहीं है।

सत्, चित्, आनंद के भेद से एक ही ब्रह्म तीन भागों में विभक्त है। सत् अंश का प्राकट्य कर्म से, चित् अंश का प्राकट्य ज्ञान से एवं आनन्द अंश का प्राकट्य भक्ति से होता है। अतः शास्त्रों में भी त्रिविध साधनों का विभाग सुतरां संगत है। इसमें भी किसी महानुभाव ने केवल सत् अंश का आस्वादन किया, किसी ने चित् अंश का, एवं किसी ने केवल आनन्द अंश का ही आस्वादन किया है। किसी ने तीनों अंशों का आस्वादन किया। इसलिये इन तीनों अंशों में किसी को न्यून नहीं कहा जा सकता है। भागवत के सिद्धांतानुसार एक ही भगवद्भजन से कर्म, ज्ञान और भक्ति की प्राप्ति कही गई है—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शांतिमुपैति साक्षात् ॥
श्रीमद्भा० ११।२।४२–४३ ।

जिस प्रकार भोजन करनेवालों को प्रत्येक ग्रास के साथ ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधा निवृत्ति,–ये तीनों एक साथ होते जाते हैं; वैसे ही जो मनुष्य भगवान् की शरण लेकर उनका भजन करने लगता है, उसे भजन के प्रत्येक क्षण में भगवान् के प्रति प्रेम, अपने परमप्रेमास्पद प्रभु के स्वरूप का अनुभव और उनके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं में वैराग्य–इन तीनों की प्राप्ति एक साथ ही हो जाती है। इस विवेचन से भी परस्पर साधनों में समन्वय सिद्ध होता है।

इसी समन्वय की भावना से कविकुलकैरवकलापकलाधर पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजी महाराज ने अपने श्रीरामचरित मानस में स्थल-स्थल पर सभी सिद्धान्तों का समन्वय किया है।

'ब्रह्म निरूपण धर्म विधि बरनहिं तत्त्व विभाग,
कहहिं भगति भगवन्त कै संयुत ज्ञान विराग ।'
'संयम नियम फूल फल ज्ञाना ।
हरिपद रति रस वेद बखाना ॥'

मुद्रकः— केशव कृष्ण पावगी, हितचिन्तक प्रेस, रामघाट, वाराणसी-१